वर्ष : 47, अंक : 6
नवम्बर-दिसम्बर 2024

गगनाचल

साहित्य, कला एवं संस्कृति का संगम

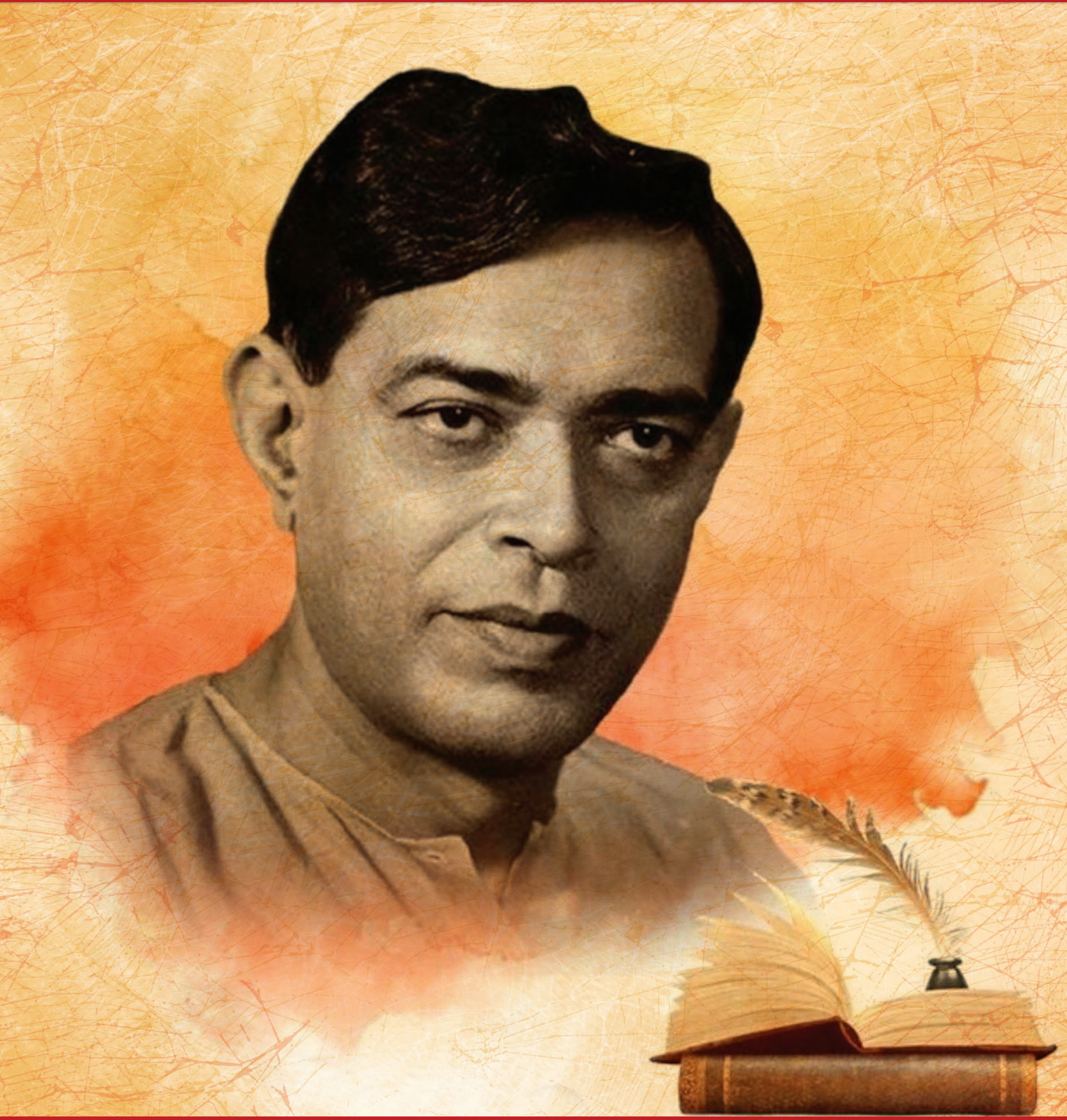

राष्ट्रकवि रामधारी सिंह दिनकर विशेषांक

गंगांचल

राष्ट्रकवि रामधारी सिंह दिनकर विशेषांक

गगनांचल

राष्ट्रकवि रामधारी सिंह दिनकर विशेषांक

सम्पादक
रवि शंकर

भारतीय सांस्कृतिक सम्बन्ध परिषद
नई दिल्ली

प्रकाशक
के. नंदिनी सिंगला
महानिदेशक, भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद,

संपादक
रवि शंकर

प्रकाशन सामग्री भेजने का पता
भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद
आजाद भवन, इंद्रप्रस्थ एस्टेट, नई दिल्ली-110002
ई-मेल : pohindi.iccr@nic.in

गगनांचल अब इंटरनेट पर भी उपलब्ध
http://www.iccr.gov.in/Publication/Gagananchal पर क्लिक करें।

सदस्यता शुल्क

वार्षिक	: ₹500	यू.एस. $ 100
त्रैवार्षिक	: ₹1200	यू.एस. $ 250

उपर्युक्त सदस्यता शुल्क का अग्रिम भुगतान ‘भारतीय सांस्कृति संबंध परिषद, नई दिल्ली’ को देय बैंक ड्राफ्ट/मनीऑर्डर द्वारा किया जाना श्रेयस्कर है।

गगनांचल में प्रकाशित लेखादि पर प्रकाशक का कॉपीराइट है किंतु पुनर्मुद्रण के लिए आग्रह प्राप्त होने पर अनुमति दी जा सकती है। अतः प्रकाशक की पूर्वानुमति के बिना कोई भी लेखादि पुनर्मुद्रित न किया जाए। गगनांचल में व्यक्त विचार संबद्ध लेखकों के होते हैं और आवश्यक रूप से परिषद की नीति को प्रकट नहीं करते। प्रकाशित चित्रों की मौलिकता आदि तथ्यों की जिम्मेदारी संबंधित प्रेषकों की है, परिषद की नहीं।

मुद्रक: सीता फाइन आर्ट्स प्राइवेट लिमिटेड
ए-16, नारायणा इंडस्ट्रियल एरिया फेज-II, नई दिल्ली-110028 (इंडिया)
फोन : +91-9811406880; ई-मेल : sitafinearts@gmail.com

प्रकाशकीय

बहुमुखी काव्यधाराओं के उद्गाता दिनकर

राष्ट्रकवि रामधारी सिंह दिनकर जी की 50वीं पुण्यतिथि पर गगनांचल का यह अंक समर्पित करते हुए हार्दिक प्रसन्नता हो रही है। दिनकर जी का साहित्य समस्त राष्ट्रप्रेमियों के लिए एक प्रकाशपुंज की भांति है। अत्यंत सहज एवं सरस भाषा के धनी, कठिन कथ्यों को सरलतम तरीके से प्रस्तुत करने में सिद्धहस्त और सामाजिक समस्याओं को अपनी दीप्त लेखनी से स्वर देने वाले अप्रतिम साहित्यकार हैं राष्ट्रकवि दिनकर।

दिनकर की कविताएँ स्वाधीनता संग्राम के दौरान भारतीय जनता के संघर्ष, क्रांति और राष्ट्रीयता की भावना को प्रकट करती हैं। उनकी रचनाओं में वीर रस, ओज और राष्ट्रप्रेम प्रमुखता से दिखाई देता है। स्वाधीनता संग्राम के दिनों में महात्मा गाँधी की अहिंसा को स्वीकार करते हुए भी दिनकर मानते थे कि राष्ट्र के रक्षार्थ शस्त्र भी उठाने पड़ सकते हैं। वे स्पष्ट लिखते हैं - समर निन्द्य है धर्मराज, पर, कहो, शांति वह क्या है,जो अनीति पर स्थित होकर भी बनी हुई सरला है?

दिनकर जी की रचनाओं में व्याप्त राष्ट्रीय भाव और युवोचित उत्साह का समारोप सामाजिक समानता में होता है। युवाओं में वीरता भरने के साथ-साथ दिनकर सामाजिक संवेदना भरने का भी प्रयास करते हैं। देशवासियों की सामाजिक चेतना को जगाने के लिए ही उन्होंने लिखा

श्वानों को मिलते दूध-वस्त्र, भूखे बालक अकुलाते हैं,
माँ की हड्डी से चिपक, ठिठुर जाड़ों की रात बिताते हैं।
युवती के लज्जा-वसन बेच जब ब्याज चुकाए जाते हैं,

मालिक जब तेल-फुलेलों पर पानी सा द्रव्य बहाते हैं,
पापी महलों का अहंकार देता तब मुझको आमंत्रण।

दिनकर स्पष्ट मानते थे कि कविता व्यक्ति द्वारा सम्पादित सामाजिक कार्य है और कविता भी समाज के लिए ही लिखी जाती है।

गगनांचल के इस अंक में दिनकर के वीरत्व के हूंकार, राष्ट्रीय अवधारणा, सामाजिक बोध से लेकर काव्यात्मक दृष्टि और सौदर्य तथा कामबोध तक पर चर्चा करने का प्रयास किया गया है। दिनकर की कविताओं में अभिव्यक्त भारतीयता और राष्ट्रीयता पर भी गंभीर चर्चा प्रस्तुत की गयी है।

के. नंदिनी सिंगला

(के. नंदिनी सिंगला)
महानिदेशक
भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद

राष्ट्रीयता और ओज के कवि दिनकर

वर्ष 2024 रामधारी सिंह दिनकर की 50वीं पुण्यतिथि है और इस अवसर पर गगनांचल का यह अंक उन्हें समर्पित करते हुए बहुत ही हर्ष अनुभव कर रहा हूँ। राष्ट्रकवि रामधारी सिंह दिनकर और उनकी कविताएं के साथ मेरे बचपन की स्मृतियां जुड़ी हैं। वे एक ऐसा नाम है, जो बचपन से लेकर आज तक हमें सहज स्फूर्ति से भर देता है। बचपन में पढ़ी रश्मिरथी की वे पंक्तियां – क्षमा शोभती उस भुजंग को जिसके पास गरल हो, उसको क्या जो दंतहीन, विषहीन, विनीत सरल हो, आज भी मन में उसी प्रकार जीवंत हैं।

दिनकर जी की कविताओं में राष्ट्रभक्ति, वीरता, सामाजिक न्याय, और मानवीय मूल्यों का महत्व देखने को मिलता है। दिनकर की कविताओं में ओजस्वी भाषा, प्रवाहमयता और गहन भावनाएँ देखने को मिलती हैं। उनकी रचनाएँ साहित्य में उनकी उत्कृष्टता और प्रभाव का प्रमाण हैं। हालाँकि दिनकर काफी शुद्ध तथा संस्कृतनिष्ठ हिंदी का प्रयोग करते हैं, परंतु उनकी शैली इतनी सहज-सरल है कि बालकों को भी उन्हें पढ़ने में आनंद आता है।

वीरत्व और ओज के कवि होने के कारण किसी भी युवा को दिनकर सहज ही लुभाते हैं। उनकी पंक्तियां – रे, रोक युधिष्ठिर को न यहाँ, जाने दे उनको स्वर्ग धीर, पर लौटा हमें गांडीव-गदा, लौटा दे अर्जुन-भीम वीर - आज भी मन को अनुप्राणित करती हैं। सच तो यह है कि रामधारी सिंह दिनकर की कविताओं में उपस्थित राष्ट्रभक्ति और वीरता की भावना ने नई पीढ़ी के कवियों और लेखकों को प्रेरित किया।

दिनकर जी की कविताओं ने आधुनिक हिंदी साहित्य पर गहरा प्रभाव डाला है। आधुनिक हिंदी कविता में ओजस्वी भाषा और सामाजिक चेतना का जो प्रवाह

देखने को मिलता है, उसमें दिनकर की कविताओं का बड़ा योगदान है। उनकी रचनाओं ने न केवल साहित्यिक दृष्टिकोण से, बल्कि समाज और राष्ट्र के प्रति सोचने के तरीके पर भी महत्वपूर्ण प्रभाव डाला है। राष्ट्रकवि को मेरी भावभीनी श्रद्धांजली अर्पित है।

– **अभय कुमार**
उप महानिदेशक
भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद

संपादकीय

कालनिरपेक्ष हैं राष्ट्रकवि दिनकर

रामधारी सिंह दिनकर की यह 50वीं पुण्य तिथि है और इस अवसर पर उन्हें स्मरण करना स्वाभाविक है। रामधारी सिंह दिनकर राष्ट्रकवि है। उन्होंने राष्ट्रीयता की भावना को उद्दीप्त करने हेतु बड़े ही ओजस्वी काव्यों की रचना की। उनकी रचनाएं बालकों, युवाओं और वृद्धों तक की नसें फड़काने में सक्षम हैं। उन्होंने युवा की जो परिभाषा रश्मिरथी में दी है, वह एक बार में स्मरण हो जाने योग्य तो है ही, वह यह भी बताती है कि दिनकर की राष्ट्रीय दृष्टि का आधार 18वीं शताब्दी में उत्पन्न हुए यूरोपीय नेशनलिज्म नहीं था, बल्कि प्राचीन वैदिक संकल्पना थी। यजुर्वेद 22/22 के शूरऽइषव्योऽतिव्याधी महारथो, सभेयो युवास्य के अनुसार ही दिनकर जी ने लिखा है

पत्थर सी हो मांसपेशियां, लोहे से भुजदंड अभय
नस-नस में हो भरी आग सी, तभी जवानी पाती जय।

जय पाने वाली जवानी की दिनकर कामना करते थे, राग-रंग में लिप्त स्त्रैण जवानी की नहीं। दिनकर जी ने 1960 के चीन युद्ध के समय अर्जुन और भीम जैसी शूरवीरता की आकांक्षा प्रकट की। स्पष्ट है कि उनके राष्ट्रवाद की जड़ें काफी गहरी थीं, भारत के प्राचीन इतिहास से जुड़ी हुई थीं।

यही कारण भी है कि उनकी दृष्टि केवल समस्या कथन तक नहीं रहती, वे समाधान तलाशते हैं। पौराणिक नायकों के माध्यम से वे अपने युग की समस्याओं को सुलझाने का प्रयास करते हैं। देश में फैल रहे जातिवादी राजनीति पर प्रहार करते हुए ही उन्होंने कर्ण के माध्यम से श्रेष्ठता की स्थापना में जाति की व्यर्थता को सामने रखने का प्रयास किया। यही भारतीय परंपरा भी रही थी, जो कि कालप्रवाह में

विकृत हो गई थी और जिसे भारत की ऋषि तथा संतों की परंपरा के अनुसार दिनकर भी संशोधित करने का प्रयास कर रहे थे।

दिनकर का रचनासंसार कालनिरपेक्ष हैं। वे हमेशा ही प्रासंगिक हैं। उनकी रचनाएं न केवल झकझोरती हैं, बल्कि व्यक्ति को कुछ करने के लिए भी उत्प्रेरित करती हैं। उन्होंने भारत की राष्ट्रीय समस्याओं को समझने और उनका समाधान तलाशने हेतु संस्कृति के चार अध्यायों का सृजन किया। दिनकर जी की विशेषता यह रही है कि वे केवल साहित्यकार नहीं थे, वे प्राध्यापक भी थे, राजनेता भी थे और सबसे बढ़ कर वे एक कवि थे। अपने इन बहुआयामी अनुभवों को उन्होंने संस्कृति के चार अध्याय में प्रस्तुत किया।

राष्ट्रकवि के इस जन्मदिवस पर उन्हें स्मरण करना हमें भावाभिभूत कर देता है। मुझे इस बात का आनंद है कि मुझे यह अवसर प्राप्त हुआ कि उन पर केंद्रित एक विशेषांक का मैं संपादन करूँ। मैं सभी लेखकों का भी आभारी हूँ कि उन्होंने दिनकर जी के साहित्य के विविध आयामों का आड़ोलन करते हुए हमें आलेख प्रदान किये। यह अंक राष्ट्रकवि को हम सभी की एक छोटी सी श्रद्धांजली है।

(रवि शंकर)
मोबाइल : +91-8076624400
ईमेल : editor-iccr@nic.in

विषय-क्रम

1. रामधारी सिंह दिनकर के काव्य में राष्ट्रीय चेतना / *डॉ. प्रियंका मिश्रा* 13
2. दिनकर का राष्ट्रबोध / *डॉ. संजय कुमार सेठ* 20
3. सांस्कृतिक आलोचना दृष्टि और दिनकर / *डॉ. प्रमोद कुमार तिवारी* 31
4. दिनकर के काव्य की युग चेतना : पृष्ठभूमि और व्याप्ति / *डॉ. अजीत कुमार पुरी* 42
5. दिनकर की युगचेतना / *खुशबू सिंह* 50
6. दिनकर की दृष्टि में अतीत और समसामयिक इतिहास / *डॉ. मनीष श्रीमाली* 56
7. रामधारी सिंह 'दिनकर' के साहित्य में अभिव्यक्त भारतीय संस्कृति / *डॉ. प्रियंका कुमारी* 63
8. काम के माहात्म्य का मिथकीय अभिधान है दिनकर की 'उर्वशी' / *प्रो. हरीश अरोड़ा* 72
9. ओजस्वी कवि दिनकर : भूतल में दिव्य प्रकाश भरे / *डॉ. मलखान सिंह* 80
10. कल्पना-तत्त्व की दृष्टि से 'उर्वशी' खंडकाव्य का विवेचन / *डॉ. अनिरुद्ध बायन* 88
11. दिनकर का सनातन दर्शन / *डॉ. ध्रुव कुमार* 97
12. दिनकर के काम चिन्तन की कणिकाएं / प्रो. *हरदीप सिंह* 104
13. दिनकर के काव्य में जन चेतना / *डॉ. नीलम जैन* 113
14. दिनकर के काव्य में युद्ध और शांति का चिंतन / *पीयूष कुमार दुबे* 118

15. दिनकर के काव्य में राष्ट्रीय चेतना / *डॉ. रोशन राय* 125

16. प्रोफेसर रामधारी सिंह दिनकर जी का राष्ट्रवाद एवं भारतीयता / *सीमा शर्मा, डॉ. हरीश कुमार वैश्य* 132

17. नवजागरण का नवनीत और दिनकर की राष्ट्रीय चेतना / *निधिलता तिवारी* 143

18. परशुराम की प्रतीक्षा एक अवलोकन / *डॉ. अनुरुद्ध सिंह* 154

19. मर्त्य मानव की विजय का तूर्य हूँ मैं जिजीविषा की सांस्कृतिक प्रस्तुति के कवि रामधारी सिंह दिनकर / *आचार्य चन्दन* 164

20. युगकवि दिनकर / *डॉ. विभा नायक* 171

21. रामधारी सिंह 'दिनकर' के साहित्य में राष्ट्रीय चेतना / *डॉ. शुचिता शर्मा, डॉ. अनुराग त्रिपाठी* 179

22. रामधारी सिंह 'दिनकर' का राष्ट्रबोध एवं इतिहासबोध / *डॉ. विनोद कुमार जायसवाल, अंकुश गुप्ता* 184

23. राष्ट्रीय और सांस्कृतिक चेतना के उन्नायक कवि : रामधारी सिंह 'दिनकर' / *नेहा श्रीवास्तव* 195

24. राष्ट्रीय चेतना के प्रखर स्वर : रामधारी सिंह दिनकर / *डॉ. शिखा रानी* 204

25. हिन्दी का भाषाई संघर्ष और दिनकर / *डॉ. मणिरंजन राय* 214

26. मगध-महिमा (पद्य-नाटिका) / *रामधारी सिंह दिनकर* 221

रामधारी सिंह दिनकर के काव्य में राष्ट्रीय चेतना

— डॉ. प्रियंका मिश्रा

विश्व की प्रत्येक भाषा के काव्य में हर युग में राष्ट्रीय भावना का समावेश रहा है। राष्ट्रीय काव्य में समग्र राष्ट्र की चेतना प्रस्फुटित होती है। हमारे देश में तो यह राष्ट्रीय चेतना वैदिक काल से ही साहित्य में परिलक्षित होती रही है। यजुर्वेद की एक ऋचा में राष्ट्र में देहि एवं अथर्ववेद की ऋचा में त्वा राष्ट्र भृत्याय जैसे शब्द समाज के अर्थ में प्रयुक्त हुए। समाज ही राष्ट्र का निर्माण करता है। रामायण भी 'जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी' के साथ राष्ट्रवाद की भावना को ही आगे बढ़ाती है। दिनकर को परंपरा से राष्ट्रीय कविता के संस्कार प्राप्त हुए है। उनके काव्य में राष्ट्रीय समग्रता दिखाई देती है।

भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन के समकालीन कवियों व लेखकों ने अपनी रचनाओं के माध्यम से राष्ट्रीय काव्य की परम्परा को आगे बढ़ाया। समाज को जाग्रत करने हेतु लेखनी उठाने में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र हिन्दी के प्रथम कवि माने जाते हैं। मैथिलीशरण गुप्त, माखन लाल चतुर्वेदी, बाल कृष्ण शर्मा नवीन, सोहनलाल द्विवेदी राष्ट्रीय नवजागरण के ऐसे उत्प्रेरक कवियों के नाम हैं जिन्होंने अपने संकल्प और चिन्तन के सहारे राष्ट्रीयता की अलख जगाकर एक पूरे युग को आन्दोलित किया। इसी काल में रामधारी सिंह दिनकर, राम नरेश त्रिपाठी, सुभद्रा कुमारी चौहान, श्याम नारायण पाण्डे, सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला आदि हिन्दी कवियों ने भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम में राष्ट्रवादी भावना को अपने काव्य का विषय बनाकर राष्ट्रीय चेतना को उसके चरम पर पहुँचाया।

रामधारी सिंह दिनकर राष्ट्रीय धारा के कवियों में सर्वाधिक सबल हस्ताक्षर बन कर उभरे। उनकी काव्य रचनाओं में पराधीनता के अभिशाप का प्रबल विरोध अपनी

सम्पूर्ण गर्जना व भीषणता के साथ लक्षित होता है। उन्होंने स्वातंत्र्य आन्दोलन के इतिहास को इस प्रकार काव्यबद्ध किया है कि उनके कृतित्व में इतिहास बोध, समसामयिकता, परिवेश के प्रति गहन स्वचेतना तथा भविष्य दृष्टि का गूढ़ समावेश मिलता है। राष्ट्रीय आन्दोलन की सफलता, असफलता, उत्साह, आशा और निराशा की स्पष्ट झलक उनके काव्य में मिलती है।

दिनकर ने जनजीवन में फैले नैराश्य-भाव, वेदना व आक्रोश को सबल कष्ट से उबारा। उनका काव्य राष्ट्रीय आन्दोलन की समसामयिक गतिविधियों से अभिन्न रूप से सम्बद्ध रहा है। वे स्वाधीनता संग्राम में निरंतर अपनी कलम से भरपूर योगदान देते रहे। वे अपनी राष्ट्रीय चेतना के विषय में स्वयं उस समय की परिस्थितियों को उत्तरदायी मानते हैं। वे कहते हैं- "राष्ट्रीयता मेरे व्यक्तित्व के भीतर से नहीं जन्मी, उसने बाहर से आकर मुझे आक्रांत किया है।" पंत, प्रसाद, निराला जैसे अपने समकालिकों की चर्चा करते हुए वे लिखते हैं - "वे फिर भी संयमशील रहे, किन्तु मुझ जैसे लोग राष्ट्रीय एवं क्रान्तिकारी भावनाओं के प्रवाह में बह गये।"

वस्तुतः दिनकर को परम्परा से राष्ट्रीय कविता के संस्कार प्राप्त हुए। इस विषय में डॉ. पुष्पा ठक्कर का कथन है- "राष्ट्रीय आन्दोलन से प्रभावित दिनकर की काव्य चेतना क्रमशः अभाव से भाव तथा निवृति से प्रवृत्ति की ओर अग्रसर हुई है। माखनलाल चतुर्वेदी, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, राम नरेश त्रिपाठी और मैथिलीशरण गुप्त के द्वारा उन्हें राष्ट्रीय कविता के संस्कार प्राप्त हुए। वास्तव में राष्ट्रीय कविता की जो परम्परा भारतेन्दु हरिश्चन्द्र से प्रारम्भ हुई उसकी परिणति हुई दिनकर में।"

दिनकर के राष्ट्रीय काव्य को हम मुख्य रूप से दो वर्गों में विभाजित कर सकते हैं। पहला, स्वतन्त्रता आन्दोलन से सम्बद्ध समसामयिक राष्ट्रीय काव्य व दूसरा स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् बदलते हुए परिवेश से प्रेरित राष्ट्रीय काव्य। कवि ने न केवल हिन्दी के राष्ट्रीय काव्य की सम्पूर्ण परम्परा की विशेषताओं को अपनी कविताओं में पिरोया अपितु बदलते हुए संदर्भों के अनुरूप राष्ट्रीयता के अनेक आयाम भी प्रस्तुत किये।

राष्ट्र देवता का विसर्जन और किसको नमन करूँ जैसी कविताओं में दिनकर विश्व-बन्धुत्व की ओर बढ़ते हैं। वे अखिल सृष्टि के अमरत्व और मुखशान्ति की मंगल कामना करते हैं कि एक ऐसा समय आए जब राष्ट्र-राष्ट्र और जाति-जाति के

मध्य मैत्री होगी।

"तब उतरेगी शान्ति, मनुज का मन जब कोमल होगा,
जहाँ आज है गरल, वहाँ शीतल गंगाजल होगा।।

दिनकर का विश्वास था कि यदि समाज में समता व समभाव नहीं तो मात्र समाजवाद का नारा देने से मानव सुखी नहीं होगा-

"जब तक मनुज मनुज का यह, सुखभाग-नहीं सम होगा।
शमित न होगा कोलाहल, संघर्ष नहीं कम होगा।।

कहा जा सकता है कि दिनकर की राष्ट्रीय चेतना में ओजस्वी प्रवाह है जिसमें एक ओर क्रान्ति की ज्वाला है तो दूसरी ओर विश्व शान्ति की आकांक्षा भी। उनमें जितनी प्रखर भावना स्वधर्म और राष्ट्र के प्रति है उतनी ही विश्व बन्धुत्व की उदान्त चेतना भी है। उनकी इसी मानवतावादी राष्ट्र चेतना को देखकर आलोचकों ने उसे आधुनिक राष्ट्रीय काव्य का युगचरण कहा है।

साहित्य के क्षेत्र में अभूतपूर्व योगदान के लिए दिनकर को हिन्दी जगत में असीम प्यार, सम्मान और पुरस्कार मिले। उन्हें काशीनागरी प्रचारिणी सभा का पंडित महावीर प्रसाद द्विवेदी पुरस्कार दो बार मिला। इसके अतिरिक्त केन्द्रीय साहित्य अकादमी पुरस्कार, ज्ञानपीठ पुरस्कार, विद्यावाचस्पति की उपाधि, साहित्य चूड़ामणि की उपाधि तथा पद्मभूषण उपाधि से 'अलंकृत' किया गया। 1955 ई. में पोलैंड में अन्तर्राष्ट्रीय काव्य समारोह में उन्होंने भारतीय प्रतिनिधि मण्डल का नेतृत्व किया। उनकी रचनाओं का अनेक भारतीय भाषाओं में अनुवाद हुआ।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि दिनकर का काव्य जनमानस में राष्ट्रीयता का अमर मंत्र फूंकने में सक्षम है, उनकी कालजयी रचनाएँ शौर्य, पराक्रम एवं स्वातन्त्र्य चेतना का उद्घोष करती हैं। उनका काव्य युवाओं के लिए प्रेरणास्रोत है-

"छोड़ो मत अपनी आन, सीस कट जाए,
मत झुको अनय पर, भले व्योम फट जाए
दो बार नहीं यमराज कष्ठ धरता है,
मरता है जो, एक बार ही वो मरता है।"

आज देश को दिनकर की राष्ट्रीयता को समझने की आवश्यकता है। उनकी राष्ट्रीयता का आधार उनकी वे काव्य रचनाएँ हैं जो बालक, युवा, वृद्ध, नर-नारी सबके लिए सहज-ग्राह्य हैं। दिनकर सही अर्थों में राष्ट्रीय हैं, क्योंकि वे इससे पहले

भारतीय हैं, भारतीय लोक तथा भारतीय जन के हैं। देश को दिशा देना साहित्य व काव्य का कर्तव्य है। इसके द्वारा लोकचेतना का नया संचार हो सकता है। इस दृष्टि से दिनकर का राष्ट्रीयता से ओतप्रोत काव्य वर्तमान परिप्रेक्ष्य में और भी प्रासंगिक जान पड़ता है जबकि समाज में जाति, धर्म, समुदाय, स्वार्थपरता, सामाजिक असमानता, अन्धराष्ट्रीयता तथा आर्थिक विषमताओं के कारण अनेक विसंगतियाँ सर उठाए हुए हैं। भारत, जो विश्व की एक प्रमुख शक्ति के रूप में स्थापित होने की ओर अग्रसर है। उसके मार्ग की उपरोक्त बाधाओं को दूर करने में सार्थक विचार तथा प्रेरक साहित्य सहायक हो सकते हैं। जैसा कि महात्मा गाँधी ने कहा- "राष्ट्र में कोई बुराई नहीं, बुराई तो संकीर्णता, स्वार्थपरता और अलगाव में है जो कि आधुनिक राष्ट्रों के कलंक हैं।"

अपने सम्पूर्ण राष्ट्रीय काव्य में दिनकर की यात्रा परम्परा से आधुनिकता की ओर रही। अपने अग्रज कवियों, मैथिलीशरण गुप्त, माखन लाल चतुर्वेदी और बाल कृष्ण शर्मा 'नवीन' की भाँति दिनकर. 'हुँकार तक राष्ट्रीय आन्दोलन की घटनाओं परिस्थितियों और नायकों को आवेगधर्मिता के धरातल पर काव्यबद्ध करते रहें। आरम्भ से ही दिनकर अपने आदर्शवादी दृष्टिकोण को उग्रवादी आन्दोलन से जोड़कर राष्ट्रभक्त वीरों के चरित्र को प्रस्तुत करते हैं।-

"माँ की मीठी गोद छोड़कर,
प्रणय-वेली पर खिलना,
कितना उन्माद आ रहा
होगा फाँसी से मिलना।"

राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी के प्रति उन्होंने अपनी भावनाएँ 'बापू' नामक रचना में इस प्रकार व्यक्त कीं-

"ली जाँच प्रेम ने बहुत मगर, बापू तू सदा खरा उतरा,
शूली पर से भी बार, तू नूतन ज्योति भरा उतरा।
न जाने कितना अभिशाप मिले, कितना पीना है पड़ा गरल,
फिर भी आँखों में घरी, फिर भी मुँह पर मुस्कान सरल।"

दिनकर के काव्य ने यह स्पष्ट कर दिया था कि कविता में वह शक्ति है जो अत्याचार, शोषण, उत्पीड़न के विरूद्ध आग उगल सकती है तथा सत्ता के मद में चूर राजनेताओं को नींद उड़ा सकती है। वे राष्ट्र की वास्तविक सत्ता जनता को ही

मानते थे। जन विरोधी ताकतों को ललकारते हुए 26 जनवरी 1950 को देश के प्रथम गणतन्त्र दिवस के अवसर पर उन्होंने कहा-

"सदियों की ठण्डी-बुझी आग सुगबुगा उभी,
मिट्टी सोने का ताज पहन इठलाती है,
दो राह सम के रथ का घर्घर नाद सुनो,
सिंहासन खाली करो कि जनता आती है।"

स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् भी कवि दिनकर का हृदय अपने राष्ट्रीय धर्म का निर्वहन अपनी पूरी तत्परता के साथ करता रहा। कवि ने यह अनुभव किया कि स्वतन्त्रता का लाभ शोषित-पीड़ित जन को न मिलकर कुछ व्यक्तियों तक सीमित है, जो प्रभावशाली थे। उन्होंने राजनीतिक दाँचे पर कटाक्ष करते हुए कहा- "टोपी कहती हैं- मैं थैली बन सकती हूँ, कुरता कहता है मुझे बोरिया ही कर लो। ईमान बचाकर, कहता है आँखे सबकी, बिकने को हूँ तैयार, खुशी से जो दे दो।" कभी रेणुका से तो कभी 'हुँकार से। जनमानस को जागरण के शंखनाद से विवादित करते हुए वे कहते हैं-

'युगधर्म का हुँकार हूँ मैं,
प्रलय गाँडीव का टंकार हूँ मैं।
इसी प्रकार 'कुरूक्षेत्र' में हुँकार भरते हैं दिनकर-
"उठो उठो कुरीतियों की राह तुम रोक दो,
बढ़ो बढ़ो कि आग में गुलामियों को झोंक दो।"

दिनकर हिन्दी साहित्य के ऐसे हस्ताक्षर हैं जो अपने सम्पूर्ण रचनाकाल में नवयुवकों एवं वयस्कों में समान रूप से समाहित रहे। उनकी ओजस्व भाषा-शैली, क्रान्ति और विद्रोह के स्वर प्रौढ़ विचार, गम्भीर चिन्तन तथा मौलिक दर्शन उनके काव्य की विशेषता है। बेनीपुरी जी के अनुसार- "हमारे क्रान्ति युग का सम्पूर्ण प्रतिनिधित्व इस समय दिनकर का रहा है। क्रान्तिवादी को जिन-जिन हृदय मन्थनों से गुजरना होता है, दिनकर जी की कविता उसकी सच्ची तस्वीर रखती है।'

1928 ई. में लाहौर कांग्रेस द्वारा पूर्ण स्वाधीनता का प्रस्ताव पारित होने पर दिनकर ने उद्घोष किया-

"टुकड़े दिखा-दिखा करते क्यों मृगपति का अपमान ?
औ मद-सत्ता के मतवालों, बनो ना यूँ नादान।"

दिनकर की 'हिमालय', रचना में 1931-32 ई. के राष्ट्रीय आन्दोलन के उपरान्त मुखरित राष्ट्रीय भावना का स्वर गूंज उठा। नयी दिल्ली, कविता में अंग्रेजी राज के प्रति असन्तोष व प्राचीन भारत के शौर्य के दर्शन होते हैं यथा-

"आहें उठी दीन कृषकों की, मजदूरों की तड़प पुकारें।
अरे! गरीबी के लहू पर खड़ी हुई तेरी दीवारें।।

दिनकर की काव्य कृतियों में कुरूक्षेत्र का विशेष स्थान है। कवि ने कुरूक्षेत्र के युद्ध के माध्यम से युग भावना को अभिव्यक्ति दी-

"रे रोक युधिष्ठिर को न यहाँ जाने दे उनको स्वर्ग धीर।,
पर, फिरा हमें गाण्डीव-गदा लौटा दे अर्जुन, भीम वीर।"

स्पष्ट है कि दिनकर मानते थे कि राष्ट्र को भीम, अर्जुन जैसे वीरों की आवश्यकता है जो अंग्रेजों के शोषण और अन्याय का दृढ़ता से प्रत्युत्तर दे सके। यही समय की माँग भी थी। सत्याग्रह के महायज्ञ में आहुति देने वालों में दिनकर भी थे। जब उन्होंने अपनी कृतियों के माध्यम से सत्याग्रहियों को प्रेरित किया, आश्वस्त किया-

"दिशा दीप्त हो उठी प्राप्त कर पुण्य प्रकाश तुम्हारा,
लिखा जा चुका अनल अक्षरों में इतिहास तुम्हारा,
जिस मिट्टी ने लहू पिया वह फूल खिलायेगी ही,

दिनकर की राष्ट्रीय अवधारणा में एक ओर देश के प्रति प्रेम और सम्मान का भाव है, वहीं दूसरी ओर मानव मात्र के लिए स्वतन्त्रता, समानता व स्वाभिमान की आकांक्षा भी परिलक्षित होती है, जिसकी वर्तमान में महती आवश्यकता है। स्वतन्त्र भाव से समान साझेदारी के साथ उन्मुक्त जीवन जीने की प्रेरणा देती ये पंक्तियाँ कवि के राष्ट्रीय उद्घोष का सार हैं-

"कानो कानो को सही नहीं, चुपके चुपके, छिप आह न भर,
तू बोल, सोचता है जो कुछ, पहरों की टुक, परवाह न कर,
अब नहीं गाँव में भिक्षु और दिल्ली में कोई दानी है,
तू दास किसी का नहीं स्वयं, स्वाधीन देश का प्राणी है।"

संदर्भ

1. हुँकार की भूमिका, क्रान्ति का कवि, रामवृक्ष बेनीपुरी, पृ.सं.-02
2. दिनकर, प्रणभंग, वायसराय की घोषणा पर, पृ.सं.-54
3. दिनकर के काव्य में परम्परा और आधुनिकता, पृ.सं.-165

4. दिनकर, प्रणभंग, 'शहीद अशफाक के प्रति, पृ.सं.-54
5. दिनकर, रामधारी सिंह, नील कुसुम, उदयाचल, पटना-1, पृ.सं.-29
6. दिनकर, नीम के पत्ते, पहली वर्षगांठ, पृ.सं.-18
7. 'चक्रवाल, भूमिका, दिनकर, पृ.सं.-33
8. डॉ. पुष्पा ठक्कर, दिनकर काव्य में युग चेतना, पृ.सं.-85
9. चक्रवाल, पृ.सं.-378
10. कुरुक्षेत्र, पृ.सं.-87

एसोसिएट प्रोफेसर (हिन्दी)
दूरशिक्षा निदेशालय
महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिन्दी विश्वविद्यालय
वर्धा (महाराष्ट्र)

दिनकर का राष्ट्रबोध

— डॉ. संजय कुमार सेठ

राष्ट्रबोध चेतना का विषय है। यह मानव जाति की मूलभूत अनुभूतियों में से एक है। मनुष्य स्वभाव से ही ममत्व प्रेमी है, जो कुछ उसका अपना है, वही उसे अधिक प्रिय है। अपने देश की पृष्ठभूमि से अनुराग, अपने देशवासियों के साथ सहानुभूति एवं सहयोग, युग-युग से चली भा रही अपनी परंपराओं एवं आदर्शों का अनुकरण तथा अपनी सभ्यता एवं संस्कृति का आकर्षण प्रत्येक व्यक्ति को रुचिकर होता है।

भारत में राष्ट्रबोध का यह स्वरूप 19वीं सदी में देखने को मिलता है। आर्थिक क्षेत्र तथा राजनीतिक क्षेत्र में इस बोध की एक नयी किरण दिखायी पड़ी जिसने भारतीयों को अपने स्वर्णिम इतिहास की ओर झाँकने की प्रेरणा दी। फलस्वरूप अंग्रेजों की जो पूँजीवादी अर्थव्यवस्था पूरे देश में फैल चुकी थी उसके विरुद्ध भारतीयों के मन में आक्रोश जन्म लेने लगा और राष्ट्रीयता की भावना की सुगबुगाहट बड़ी तीव्रता से उठने लगी।

'हिंदी काव्य में राष्ट्रीय भावना की यह धारा युग और परिस्थिति के साथ अपना स्वरुप बदलती हुई निरंतर बहती रही है। कभी गिरिवर की कोख से निकलकर मचलते हुए निर्झर की भाँति वह अठखेलियाँ करती चली है, कभी धीर, गम्भीर रूप में, कभी अत्यंत रौद्र रूप में फुत्कार करती हुई कगारों को भी ढाहती हुई आगे की ओर बढ़ती रही है। इसका पाट निरंतर विस्तृत होता रहा है और आज विश्व भावना के सागर में परिवर्तित होने जा रहा है।'[1]

दिनकर में यह भावना अतीत के आदर्शों में वर्तमान के भविष्य का निर्माण करता हुआ उनके काव्य में दिखायी पड़ता है। उनके भविष्य का भारत अतीत के

आदर्शों पर खड़ा होगा। जिस प्रकार किसी राष्ट्र का नींव उसका अतीत होता है उसी प्रकार भारत की मजबूती की नींव उसका अतीत ही है। इसी कारण दिनकर अतीत से प्रेरणा प्राप्त कर भारत को नई स्फूर्ति देना चाहते थे तो कहीं सुनहरे अतीत को याद कर वर्तमान की दुर्दशा पर शोकाकुल हो जाते हैं।

'दिनकर' कहते हैं कि **"आज समस्त संसार में केवल भारतीय संस्कृति ही ऐसी संस्कृति है जिसमें अधिक से अधिक संस्कृतियों का रंग मिला हुआ है, जो अधिक से अधिक भिन्न जातियों की मानसिक एवं आध्यात्मिक एकता का प्रतिनिधित्व करती है।"**[2]

दिनकर के काव्य में राष्ट्रबोध जिन रुपों में व्यक्त हुआ वह इस प्रकार हैं - (1) भारत का सुनहरा अतीत (2) समसामयिकता से प्रेरित राष्ट्रबोध (3) राष्ट्रीय वीरों का चरित्रांकन (4) देशवासियों का आह्वान (5) देश और देशवासियों का अंकन।

भारत का सुनहरा अतीत

दिनकर का काव्य अपने अतीत से अनिवार्यतः जुड़ा होता है। राष्ट्र का अतीत उसके वर्तमान को भविष्य के निर्माण के लिए एक मानदण्ड प्रदान करता है। यहीं कारण है कि कवि अपने देश की पारंपरिक उपलाब्धियों पर गर्व करता है। दिनकर ने आरंभ से ही अपने देश के सुनहरे अतीत की परंपराओं का काव्यात्मक व्याख्यान किया है। अतीत के प्रति कवि का यह आकर्षण निरंतर बढ़ता ही गया है। 'प्रणभंग' नामक खण्डकाव्य से ही दिनकर ने अतीत को अपने काव्य का विषय बनाना आरंभ कर दिया है।

"विश्व - विभव की अमर-बेलि पर
फूलों सा खिलना तेरा।
शक्ति-यान पर चढ़ कर वह
उन्नत-रवि पर मिलना तेरा।
भारत! क्रूर समय की मारों
से न जगत सकता है भूल
अब भी इस सौरभ से सुरभित
कालिन्दी के कल-कूल हैं।"[3]

कवि ने 'प्रणभंग' में महाभारत के एक प्रसंग विशेष को अपनी रचना का आधार बनाया है। कवि ने अपनी ओर से घटनाक्रम या पात्रों की प्रकृति में कोई परिवर्तन

नहीं किया है। 'प्रणभंग' नामक इस खण्डकाव्य की अन्य स्फुट कविताओं में यहापि कवि ने राष्ट्रीय परंपराओं को आधार बनाने का उपक्रम नहीं किया है किंतु 'प्रणभंग' कविता कवि की अतीतकालीन स्वर्णिम परंपराओं के प्रति निष्ठा का परिचायक है। 'रेणुका' में कवि ने देश के अतीतकालीन गौरव का भावुक स्मरण किया है। कवि ने 'नगपति हिमालय का मानवीकरण करते हुए कहा है कि -

"किन द्रौपदियों के बाल खुले
कितनी कलियों का अंत हुआ
कह हृदय खोल चित्तौर! यहाँ
कितने दिन ज्वाल-बसन्त हुआ।"[4]

कवि ने इस कविता में द्रौपदियों के बाल खुलने और कलियों के अंत होने मात्र तक ऐतिहासिक संदर्भ नहीं दिया है बल्कि उसे वर्तमान संदर्भ से भी जोड़ने का प्रयास किया है। कविता में हिमालय स्वयं ही एक प्रतीक है, वह उस निष्क्रिय, प्रतिक्रिया-हीन जनमानस का प्रतीक है जिस पर किसी घटनाक्रम का कोई प्रभाव नहीं पड़ता है। वर्तमान समाज शिक्षित होने के बावजूद भी महिलाओं का सम्मान नहीं कर रहा है, उनको अपमानित कर रहा है लेकिन मानों जैसे हमारा रक्त पानी हो गया है। उस पानी बन गए रक्त को उष्ण और रक्तिम बनाने के लिए हिमालय को प्रतीक बनाकर कवि ने आज के जनमानस को झकझोर दिया है-

"कितनी मणियाँ लुट गई?
मिटा कितना मेरा वैभव अशेष
तू ध्यान-मग्न ही रहा, इधर
वीरान हुआ प्यारा स्वदेश।"[5]

'हुंकार' नामक काव्य में दिनकर राष्ट्र की स्वर्णिम परंपराओं में चाहकर भी उतना रम नहीं पाते जितना वह 'प्रणभंग' और 'रेणुका' में रम सके थे। क्योंकि वर्तमान के आह्वान पर कवि का दायित्व बढ़ गया है और कवि क्रांति की देवी का प्रहरी बन गया है।

"अन्य अनुचर सोये निश्चिन्त
शिथिल परियों की करते प्यार;
रात में भी मुझ पर ही पड़ा
हार-प्रहरी का गुरुतम भार।"[6]

वस्तुतः हुंकार की वे कविताएँ जो राष्ट्रीय परंपराओं के गौरव से युक्त हैं उनमें वर्तमान की यथार्थ मूलकता का देश बराबर बना रहता है। 'हुंकार' में कवि 'रेणुका' मे' व्यक्त अतीत पर इतराता नहीं है बल्कि वर्तमान के दबाव का अनुभव करता है-

"देखा, शून्य कुँवर का गढ़ है, झांसी की वह शान नहीं है।
दुर्गादास, प्रताप बली का प्यारा राजस्थान नहीं है
जलती नहीं चिता जौहर की, मुट्ठी में बलिदान नहीं है।
टेढ़ी-मूंछ लिए रण-वन फिरना अब तो आसान नहीं है।"[7]

समसामयिकता से प्रेरित राष्ट्रबोध

सामयिकता दिनकर के काव्य की सबसे बड़ी प्रधानता है। "दिनकर के काव्य ने सबसे पहले सामयिक जीवन की चुनौती को स्वीकार किया और उसका प्रभावशाली उत्तर देने का प्रयास किया।"[8] किंतु दिनकर का समसामयिक राष्ट्रीय काव्य इसलिए महत्वपूर्ण नहीं है कि उसमें हमारे स्वतंत्रता संग्राम की महत्वपूर्ण घटनाएँ और तथ्य हैं, बल्कि इसलिए क्योंकि दिनकर यहाँ अपनी संपूर्ण प्राणवत्ता के साथ अभिव्यक्ति पा सके हैं।

'प्रणभंग' नामक खण्डकाव्य समसामयिक घटनाओं से अनुप्राणित है। वायसराय की घोषणा पर, 'अब', 'शहीद अशफाक के प्रति', 'महात्मा गाँधी', 'शहीदों के नाम पर', 'पिंजड़े का तोता', 'मूक बलिदान', 'तपस्या', 'उमंग', 'शहीद', 'गाँधी' इत्यादि कविताओं में कवि ने अपने समक्ष घटित हो रही महान घटनाओं को काव्यबद्ध किया है। 'रेणुका' नामक काव्य में दिनकर के समसामयिकता से प्रेरित होकर राष्ट्रीय काव्य में एक विशेष प्रकार के उद्वेग को सिद्ध करने का प्रयास किया है-

"क्रान्ति-धात्रि कवित्त! जागे उठ
आडम्बर में आग लगा दे
पतन, पाप, पाखण्ड जले,
जग में ऐसी ज्वाला सुलगा दे
विद्युत की इस चकाचौंध में
देख, दीप की ली रोती है
अरी, हृदय को थाम, महल वे
लिए झोपड़ी बलि होती है।"[9]

'रेणुका' नामक काव्य में दिनकर ने तथ्यपरक सामयिकता को कवित्व की तरलता प्रदान करने की कोशिश की थी किंतु यहाँ भी कवि को पूरा अधिकार प्राप्त नहीं हो सका। किंतु 'हुंकार' में' कवि में धर्म के दायित्व को पूरी तरह स्वीकार कर लिया है-

"सुनूं क्या सिंधु में गर्जन तुम्हारा
स्वयं युग-धर्म की हुंकार हूँ मैं।"[10]

दिनकर के हृदय में उथल-पुथल करने वाले भाव हुंकार बनकर उत्पन्न होने लगते हैं और कवि अपने देश के झुके हुए मस्तक को देखकर वेदना से भर जाता है तथा पराधीनता से मुक्ति की छटपटाहट उसके भीतर उत्पन्न हो जाती है-

"नहीं जीते जी सकता देख
विश्व में झुका तुम्हारा भाल;
वेदना-मधु का भी कर पान
आज उगलूँगा गरल कराल।"[11]

राष्ट्रीय वीरों का चरित्रांकन

दिनकर ने अपने काव्य में राष्ट्र के वीर नायकों के चरित्र को काव्यबद्ध किया है। उनकी कृतियों में नायकों के बलिदान की प्रखर चेतना दिखायी पड़ती है। डॉं सावित्री सिन्हा ने लिखा है- "दिनकर की कविता इस पीढ़ी की राष्ट्रीय कविता से अलग है क्योंकि आरंभ से ही उसमें गाँधीवादी युग के उन नवयुवकों की विद्रोही और उग्र मनोवृत्तियों की अभिव्यक्ति हुई है जो दक्षिण पंथी काँग्रेसियों के विरुद्ध थे जिनका प्रतिनिधित्व उस समय कांग्रेस में और बाहर नेहरू और सुभाष चंद्र बोस तथा जय प्रकाश नारायण कर रहे थे।"[3] बलिदान जैसे अगम मार्ग पर पदार्पण करने वाले वीर तो सिर का सौदा करके ही आते हैं। इस मार्ग पर जाने वाले को मर-मिटने में ही सच्चा सुख मिलता है।

दिनकर में कष्ट-सहिष्णु बनकर बलिवेदी पर न्यौछावर होने का महान संदेश दिया है-

"पी ले विष के घूँट बहक
तब मजा सुरा पीने का है,
तन पर बिजली का वार सहे,
वह गर्व नये सीने का है।

सिर की कीमत का भान हुआ,
तब त्याग कहाँ? बलिदान कहाँ?
गरदन इज्जत पर दिए फिरो,
तब मजा यहाँ जीने का है।''[13]

इस प्रकार की कविताओं के माध्यम से कवि राष्ट्रीय भावों का प्रसार करना चाहता है। दिनकर गाँधी जी के महान व्यक्तित्व पर प्रकाश डालते हुए अत्यंत ओजपूर्ण वाणी द्वारा उन्हें मानवता का सच्चा रक्षक घोषित करते हैं-

''देवों की भी है साँस रुकी,
सागर! सागर! हो सावधान।
है लदी हुई नौका पर मानवता
की पूँजी महान,
यह डूब गई तो डूबेंगे मानवता
के सारे सिंगार,
यह पार लगी तो धरती की
घायल किस्मत भी लगी पार।''[14]

इसी प्रकार दिनकर ने कलम आज उनकी जय बोल, किसको नमन करूँ मैं, आदि अनेक कविताओं में आदर्शों के लिए अपने प्राणों को अर्पित करने वाले महापुरुषों के प्रति श्रद्धा प्रकट की है। 'डॉ. तारकनाथ वाली' कहते हैं कि "...जहाँ तक राष्ट्रीय भावना के व्यापक रूप और आधार सामाजिक भावना का सवाल है कवि प्राचीन भारतीय आदर्शवाद को ही प्रतिष्ठित करना चाहता है। भीष्म पितामह, युधिष्ठिर, कर्ण और परशुराम सभी के चरित्र शक्ति का प्रयोग करते हुए भी आदर्शवादी ही हैं। इसलिए इस संदर्भ में कवि की राष्ट्रीय चेतना की परिणति भारतीय आदर्शवाद में ही होती है जो कि अतीत परंपरा का ही एक रूप है।''[15]

दिनकर के काव्य में सतत् आगे बढ़ने की आकुलता विद्यमान है। कवि के मन में देश को प्रगति के पथ पर लाने की अदम्य लालसा है। दिनकर का राष्ट्र के प्रति प्रेम ही उन्हें वीरपूजक बना दिया। दिनकर के लिए वीर पुरुष प्रणम्य हैं-

''जिस युग में, जिस देश जाति
या कुल में
वर्तमान में या भविष्य गह्वर में

पुरुष विक्रमी हो, वह जहाँ कहीं भी
है नमस्य मेरा वह सीस मुकुट-सा।"[16]

देशवासियों का आह्वान

दिनकर के काव्य से देशवासियों के आह्वान का प्रबल स्तर मिलता है। देश को झिंझोड़ देने वाली क्षमता हिंदी के किसी अन्य कवि में नहीं है जैसी कि दिनकर में।[17] 'रेणुका' में कवि केवल स्वाधीनता ही नहीं चाहता बल्कि हर प्रकार के सामाजिक और आर्थिक शोषण से मुक्ति चाहता है। कवि के शब्दों में -

"कर आदेश फूँक दूं श्रृंगी
उठे प्रभावी राग-महान
तीनों काल ध्वनित हो स्वर में
जागे सुप्त भुवन के प्राण।"[18]

दिनकर में राष्ट्रीय परिस्थितियों और समस्याओं के प्रति सजग दृष्टि दिखायी पड़ती है। अनेक समस्याएँ जो समाज को प्रभावित कर रही थी। वही समाज को खोखला भी कर रही थी। इस कारण दिनकर 'आदि कवि' की वाणी को युग की वाणी में ढालना चाहते हैं -

"लाखों' क्रौंच कराह रहे हैं
जाग आदि कवि की कल्याणी
फूट-फूट तू कवि कंठो से
वन व्यापक निज युग की वाणी।"[19]

'कस्मै देवाय' में दिनकर ने शोषण के विरुद्ध उस प्रगतिशील क्रांति का आह्वान किया है जिसका संचालन प्रगतिशीलों ने किया था-

"धान-पिशाच के कृषक-मेघ में
नाच रही पशुता मतवाली
आगन्तुक पीते जाते हैं।
दीनों के शोणित की प्याली
उठ वीरों की भाव-रंगिणी
दलितों के दिल की चिंगारी।"[20]

कवि ने जो आह्वान किया है वह केवल राष्ट्रीय भावों की अभिव्यक्ति मात्र नहीं है बल्कि उसके पीछे एक सुनिश्चित जीवन दर्शन है। 'डॉ. सुनीति कुमार' के शब्दों

में "अन्याय, अत्याचार और शोषण के विरुद्ध इतना सशक्त स्वर गुंजित करने के उपरांत भी अभी क्रांतिकारी कवि का हृदय अपने भावों की तुष्टि नहीं कर सका है। उसकी परिस्थितियाँ उसे बँधनों में जकड़ रही थी वह पराधीन देश का नागरिक था और शासन चक्र में आबद्ध होने के कारण पराधीनता उसकी वाणी को उन्मुक्त होकर गाने की अनुमति नहीं देती थी। वह उन्मुक्त वातावरण कदाचित दिनकर को मिला होता तो इसमें रंचमात्र भी संदेह नहीं कि वह आकाश कुसुम को तोड़कर पृथ्वी पर ला देता।"[21]

देश और देशवासियों का अंकन

दिनकर के काव्य में देश की गरिमा या देशवासियों के शौर्य का स्थूल अंकन नहीं हुआ है, बल्कि इसका प्रगाढ़ चित्रण देखने को मिलता है। दिनकर राष्ट्र की प्रकृति और देशवासियों के चरित्रांकन में एक विशेष प्रकार की मौलिकता प्रकट करते हैं। कवि राष्ट्रवाद की उन अवधारणाओं से घृणा करते हैं जो राष्ट्र को किन्हीं भौगोलिक सीमाओं से आबद्ध करता है-

"टिकने देती भैंस नहीं बाहर वाली भैंसों को
अपने खूँटे से ढ़केल कर बाहर कर देती है;
यही भाव विकसित, प्रशस्त होकर
नर की भाषा में
राष्ट्र, राष्ट्र का प्रेम, राष्ट्र का गौरव
कहलाता है।"[22]

कवि अनुभव करता है कि इस समय जब देश पराधीनता की बेड़ियों से जकड़ा हुआ है, आध्यात्म और उच्च मानवीय आदर्शों की बात करना और उसके माध्यम से आजादी प्राप्त करने की बात सोचना उचित नहीं' ही आवश्यकता पड़ने पर कवि हिंसात्मक तरीके से भी आजादी प्राप्त करने का मार्ग प्रशस्त करना चाहता है-

'रे रोक युधिष्ठिर को न यहाँ
जाने दे उनको स्वर्ग धीर
पर फिरा हमें गांडीव गदा
लौटा दे अर्जुन भीम वीर।
तू मौन व्याग, कर सिंहनाद
रे तपी आज तप का न काल

नव-युग शंख-ध्वनि कर जगा रही
तू जाग, जाग मेरे विशाल।"[23]

दिनकर के गद्य में राष्ट्र-बोध

भारत एक विशाल देश होते हुए भी अनेक विशेषताओं से युक्त है। इसकी प्राकृतिक विशेषताएँ या भौगोलिक विशिष्टताएँ भारत को एक ही सूत्र में बाँध सकने में अड़चनें उत्पन्न करती है। इन सबके बावजूद भी भारत को सदा एक सूत्र में पिरोये रखने की चेष्टा होती रही है। 'दिनकर' भारत की इसी सामसिकता को स्वीकार करते हुए लिखते हैं कि - "भारत की संस्कृति आरंभ से ही सामासिक रही है। उत्तर-दक्षिण, पूर्व-पश्चिम, देश में जितने भी हिंदू बसते हैं, उनकी संस्कृति एक है एवं भारत की प्रत्येक क्षेत्रीय विशेषता हमारी सामाजिक संस्कृति की विशेषता है।''[24]

दिनकर का गद्य साहित्य विशाल है। 'संस्कृति के चार अध्याय' भी लेखक का राष्ट्रीय भावना से युक्त उत्कृष्ट कोटि की रचना है। इस रचना में लेखक ने प्राचीनतम संस्कृतियों में विराट समन्वय की भावना को दर्शाया है। 'दिनकर' लिखते हैं कि - "जिस हिंदू अथवा भारतीय संस्कृति के हम लोग भक्त हैं, उसकी नींव पड़े हजारों वर्ष हो गए। अब यह पता लगाना बहुत कठिन है कि इस संस्कृति के उत्थान में किस जाति का क्या योगदान है।''[25]

भारतीय धर्म में मूलतः हिंदू, बौद्ध और जैन सब एक ही है। बौद्ध धर्म का आविर्भाव गौतम बुद्ध से हुआ। उन्होंने लगभग 500 ईसा पूर्व बौद्ध धर्म का प्रवर्तन किया। हिंदू धर्म में कुछ रूढ़ियों और जटिल कर्मकांडों की विकृति को देखकर ही उन्होंने करुणामूलक अहिंसापूर्ण धर्म का प्रवर्तन किया। गौतम बुद्ध स्वंय हिंदू रीति-रिवाजों में पले-बढ़े थे। इस प्रकार हिंदूवाद और बौद्धवाद एक मूल वाले हैं। वहीं दिनकर कहते हैं कि जैन धर्म, बौद्ध धर्म से बहुत प्राचीन है। यथा - "बौद्ध धर्म की अपेक्षा जैन धर्म अधिक, बहुत अधिक प्राचीन है बल्कि यह उतना पुराना है जितना वैदिक धर्म।"[26]

दिनकर आगे लिखते हैं कि "भारतीय दर्शन और विचारधारा पर इस्लाम का कोई गंभीर प्रभाव पड़ा हो, इसका सुनिश्चित प्रमाण नहीं मिलता।"[27] किंतु वे आगे कहते हैं कि इस्लाम के आने से देश की राजनीतिक एकता में वृद्धि हुई।

निष्कर्षतः हम कह सकते हैं कि दिनकर व्यापक राष्ट्रबोध के कवि हैं। वे साहित्य को युग के अनुरुप समस्याओं का समाधान देने में लगाते हैं। एक दायित्वपूर्ण कवि/

लेखक होने के कारण उन्होंने राष्ट्रीयता के बोध को अपनाया और इसे तब तक निभाया जब तक देश की रक्षा करनी थी। जब उनकी यह मनोकामना पूरी हुई तो वे राष्ट्रीयता, राष्ट्र की सीमाओं से आगे बढ़कर विश्व शांति और विश्व बंधुत्व की तरफ आगे बढ़ते हैं। जिस प्रकार जन्म भूमि का प्रेम विकसित होकर संपूर्ण धरा को अपना मानने की प्रेरणा देता है, उसी प्रकार राष्ट्रीयता का क्रमिक विकास अंतर्राष्ट्रीयता की सुंदर व पूर्ण परिणति है।

संदर्भ

1. डॉ. सुनीति, दिनकर के काव्य में राष्ट्रीय भावना, पृ. 59-60
2. दिनकर, संस्मरण एवं श्रद्धांजलियाँ, पृ. 106
3. दिनकर, प्रणभंग, पृ. 17
4. दिनकर, रेणुका, हिमालय के प्रति, पृ. 15
5. दिनकर, रेणुका, हिमालय के प्रति, पृ. 14
6. दिनकर, हुंकार, असमय का आह्वान, पृ. 4
7. दिनकर, रेणुका, बसंत के नाम, पृ. 36
8. डॉ. तारकनाथ वाली, दिनकर की राष्ट्रीयता, डॉ. सावित्री सिन्हा (सं.), दिनकर, पृ. 105
9. दिनकर, रेणुका, कस्मै देवाय, पृ. 39
10. दिनकर, हुंकार, परिचय, पृ. 86
11. दिनकर, हुंकार, सप्तम् संस्करण, पृ. 10
12. डॉ. सावित्री सिन्हा, युगचारण दिनकर, पृ. 31
13. दिनकर, चक्रवाल, पृ. 150
14. दिनकर, चक्रवाल, बापू, पृ. 234
15. डॉ. तारकनाथ वाली, दिनकर की राष्ट्रीयता, डॉ. सावित्री सिन्हा (सं.), दिनकर, पृ. 111
16. दिनकर, हुंकार पृ. 84
17. नंदकिशोर नवल, दिनकर, पूर्ववर्तीकाव्य, डॉ. गोपालराय (सं.), राष्ट्रकवि दिनकर, पृ. 31
18. दिनकर, रेणुका, मंगल आह्वान, पृ. 21
19. दिनकर, रेणुका, पृ. 32

20. दिनकर, रेणुका, हिमालय के प्रति, पृ. 01
21. डॉ. सुनीति, दिनकर काव्य में राष्ट्रीय भावना, पृ. 138
22. दिनकर, कोयला और कवित्व, पृ. 77
23. दिनकर, रेणुका, हिमालय के प्रति
24. दिनकर, संस्मरण एवं श्रद्धाजलियाँ, पृ. 106
25. दिनकर, संस्कृति के चार अध्याय, पृ. 129, उदयांचल प्रकाशन, पटना, तृतीय संस्स्करण, 1962
26. दिनकर, संस्कृति के चार अध्याय, पृ. 62, उदयांचल प्रकाशन, पटना, तृतीय संस्स्करण, 1962
27. वही, पृ. 277, उदयांचल प्रकाशन, पटना, तृतीय संस्स्करण, 1962

सत्यवती कॉलेज
दिल्ली विश्वविद्यालय

सांस्कृतिक आलोचना दृष्टि और दिनकर

— डॉ. प्रमोद कुमार तिवारी

रचनाकार और आलोचक में जैसा द्वैत वर्तमान समय में देखने को मिल रहा है, वैसा पहले नहीं रहा। संस्कृत के अधिकांश आचार्य कवि प्रतिभा से परिपूर्ण हुआ करते थे। भक्तिकाल और रीतिकाल में भी कवि और आचार्यों में अद्वैत देखने को मिलता है। यहां तक कि छायावादी कविता पर सबसे सुंदर टिप्पणियां स्वयं कवियों ने की है। पल्लव और परिमल की भूमिका ही नहीं, जय शंकर प्रसाद और महादेवी वर्मा की आलोचना दृष्टि भी विशेष नजर आती है। मैथ्यू अर्नाल्ड (1822-1888) का कथन 'रचना (कविता) जीवन की आलोचना है' इतना चर्चित हुआ कि बहुधा लोग यह भूल जाते हैं कि आलोचना भी रचना है। दोनों के मूल में जीवन और समाज ही रहता है।

सामान्य पाठकों में रामधारी सिंह दिनकर की ख्याति कवि की रही है, यह स्वाभाविक भी है परंतु साहित्य के विधिवत विद्यार्थी भी जब आलोचना से संबंधित उनकी 13 से अधिक पुस्तकों पर उचित ध्यान नहीं देते हैं तो थोड़ी चिंता होती है। संभवत: यही कारण है कि साहित्यिक परिसरों में भी दिनकर जी की ख्याति ओज की कविताओं तक सीमित होकर रह जाती है। ध्यातव्य है कि दिनकर जी ने लगभग सभी पुस्तकों की भूमिका लिखी है और ये भूमिकाएं मात्र पुस्तक परिचय या आभार ज्ञापन नहीं हैं, ये अनेक रूपों में दृष्टिदायी आलोचनात्मक टिप्पणियां हैं। उदाहरण के लिए 'उर्वशी' (1961) की भूमिका में उन्होंने जिस तरह से वेद, पुराण और महाभारत का संदर्भ लेते हुए पुरूरवा और उर्वशी के बारे में बताया है तथा काम और अध्यात्म की व्याख्या की है, वह पुस्तक परिचय मात्र नहीं है अपितु एक जीवन दृष्टि का परिचायक है।

दिनकर की कवितायें कैसे उनकी आलोचना की पूरक हैं और आलोचना किस प्रकार कविताओं की पूरक है इस पर बात करने की आवश्यकता महसूस होती है। दिनकर की आलोचना दृष्टि तत्कालीन आलोचकों से किस प्रकार भिन्न है? भारत की सारस्वत परम्परा किस प्रकार उनकी आलोचना में वाणी पाती है? क्यों उनके विषय संस्कृति के इर्द-गिर्द चक्कर लगाते से प्रतीत होते हैं? क्यों उन्हें संस्कृति के अध्यायों को समझने की आवश्यकता पड़ती है? कवियों में मैथिलीशरण गुप्त, जयशंकर प्रसाद और सुमित्रानंदन पंत दिनकर को क्यों विशेष आकर्षित करते हैं? वेद पर अनूठा कार्य करने वाले श्री अरविंद पर पूरी पुस्तक लिखने की उन्हें आवश्यकता क्यों पड़ जाती है? 'संस्कृति, भाषा और राष्ट्र' नाम से अलग से वे क्यों पुस्तक लिखते हैं? जैसे प्रश्नों का उत्तर अगर हम खोजने चलें तो रामधारी सिंह दिनकर की आलोचना दृष्टि पर बात करना अनिवार्य लगता है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल अपनी अचूक दृष्टि और संभावनाओं की अचूक पह्चान के लिए विख्यात रहे हैं। हिंदी साहित्य के इतिहास में उन्होंने जिसका एक बार भी नाम ले लिया उसको मान्यता मिल गई। यह सिर्फ़ संयोग नहीं है कि 'हिंदी साहित्य के इतिहास' में उस समय के युवा रचनाकार रामधारी सिंह दिनकर का नाम तीन बार आया है।

रामधारी सिंह दिनकर एक-एक शब्द को लेकर पर्याप्त सचेत रहे हैं। उन्होंने अपनी महत्वपूर्ण पुस्तक 'संस्कृति के चार अध्याय' की भूमिका में लिखा है कि ''पुस्तक का उचित नाम कदाचित 'भारतीय संस्कृति के चार सोपान' होना चाहिए था, किन्तु, वह नाम मन में आकर फिर लौट गया और मुझे यही अच्छा लगा कि इस पुस्तक को मैं 'संस्कृति के चार अध्याय' कहूं।'' दिनकर जी ने सोपान और अध्याय में अंतर को व्याख्यायित नहीं किया है पर मुझे जो अंतर समझ में आया वह यह है कि 'सीढ़ियां कहीं पहुंचने का माध्यम मात्र होती हैं, सीढ़ियों से व्यक्ति गुज़र जाता है, जबकि अध्याय आपस में जुड़े होते हैं, विभिन्न अध्याय मिलकर संस्कृति रूपी पुस्तक को पूर्णता देते हैं। भारतीय संस्कृति का मूल तत्त्व इसकी समन्वयवादी दृष्टि और सामासिकता रही है। ये विशेषताएं सोपानों के अलगाव में नहीं अध्यायों की पूरकता में ही संभव हो सकती थीं। समय अपनी विशाल छन्नी से सदियों-सदियों तक छान कर समाज के उज्ज्वल कणों को जोड़ता जाता है तब जाकर एक संस्कृति विकसित होती है, इसलिए उसके अध्याय भी परस्पर अभिन्न होते हैं।

अपनी पुस्तक 'संस्कृति, भाषा और राष्ट्र' में रामधारी सिंह दिनकर लिखते हैं,

"जातियों का सांस्कृतिक विनाश तब होता है, जब वे अपनी परम्पराओं को भूलकर दूसरों की परम्पराओं का अनुकरण करने लगती हैं और सांस्कृतिक दासता का भयानक रूप वह होता है, जब कोई जाति अपनी भाषा को छोड़कर दूसरों की भाषा अपना लेती है। इसका फल यह होता है कि वह जाति अपना व्यक्तित्व खो बैठती है और उसके स्वाभिमान का विनाश हो जाता है।"

दिनकर की चिंतन धारा का केंद्रीय तत्त्व संस्कृति रही है। वे हजारों वर्षों के इतिहास से उन प्रवृत्तियों को पहचानने का प्रयास करते हैं जिनसे देश की संस्कृति निर्मित हुई है। बुद्ध की क्रांति के विविध पक्षों को उठाते हुए दिनकर जी ने उसकी उपलब्धियों के साथ-साथ सीमाओं की भी पहचान की है, उन्होंने प्रथम संस्करण की भूमिका में लिखा है कि ''महावीर और गौतम बुद्ध ने इस स्थापित धर्म या संस्कृति के विरुद्ध विद्रोह किया तथा उपनिषदों की चिंताधारा को खींच कर वे अपनी मनोवांछित दिशा की ओर ले गए। इस क्रांति ने भारतीय संस्कृति की अपूर्व सेवा की, किन्तु अंत में, इसी क्रांति के सरोवर में शैवाल भी उत्पन्न हुए और भारतीय धर्म तथा संस्कृति में जो गंदलापना आया, वह काफ़ी दूर तक इन्हीं शैवालों का परिणाम था।''[1]

दिनकर जी की दृष्टि हमेशा उन तत्त्वों को खोजती रही जिनसे आज का भारत बनता है। संस्कृति के विविध पक्षों को वे वैदिक काल से लेकर अंग्रेजों के आने के बाद के समय तक की विभिन्न परिस्थितियों के बीच रखकर न केवल समझते रहे बल्कि वर्तमान संदर्भों से जोड़कर विश्लेषित भी किया।

दिनकर जी ने केवल भारतीय संस्कृति के सामासिक पक्षों को ही नहीं रेखांकित किया है बल्कि उन शक्तियों की भी चर्चा की है जिनके कारण समाज विभाजित हुआ। उदाहरण के लिए जैन, बौद्ध और इस्लाम के साथ हिंदू धर्म के संबंध का वर्णन करते हुए वे लिखते हैं "जैन साधना का झुकाव धर्म और अध्यात्म की ओर अधिक, सामाजिक परिवर्तनों की ओर बहुत कम था। इसीलिए जैन संप्रदाय कभी अलग संप्रदाय नहीं बना। वह सदैव हिंदुत्व के भीतर समाया रहा और सभी जैन हिन्दू ही रहे। किन्तु बौद्ध मत वर्णाश्रम धर्म और जाति प्रथा को बराबर झकझोरता रहा। इसी झकझोर के कारण ब्राह्मण बौद्धों के शत्रु बन गए और बदले में बौद्ध धर्म ने बहुत-से हिंदुओं के मन में वैदिक धर्म और वर्णाश्रम पद्धति के प्रति वितृष्णा उत्पन्न कर दी। वेद, ब्राह्मण और जाति प्रथा से चिढ़े हुए ये लोग ही भारत में इस्लाम के आगमन के

बाद आसानी से मुसलमान बनाए जा सके।''[2]

संस्कृति के सम तत्त्वों के साथ वे विषम तत्त्वों को भी रेखांकित करते चलते हैं। कहने की आवश्यकता नहीं कि राष्ट्रीय एकता के लिए इन तत्त्वों की पहचान अत्यंत आवश्यक है। भारतीय संस्कृति के दो महत्वपूर्ण हिस्सेदार हिंदुत्व और इस्लाम के एक न होने की व्याख्या करते हुए वे लिखते हैं ''हिंदुत्व और इस्लाम ने एक दूसरे को प्रभावित तो किया, किन्तु यह प्रभाव सतह के नीचे नहीं पहुँच सका। औसत हिन्दू का लक्षण यह है कि मानसिक धरातल पर वह अत्यंत उदार होता है, किन्तु आचरण के स्तर पर उसकी संकीर्णता भी भयानक होती है। इसके प्रतिकूल, सामाजिक आचारों में मुसलमानों की उदारता उदाहरणीय है; किन्तु मानसिक धरातल पर मुसलमान कट्टर होते हैं। अन्य धर्मो को अपने ही धर्म के समान पवित्र मानने में हिंदुओं को कठिनाई नहीं होती किन्तु औसत मुसलमान यह सोच ही नहीं सकता कि अन्य धर्म भी इस्लाम के ही समान पवित्र हैं। दुर्भाग्य की बात यह हुई कि हिन्दुओं ने सामाजिक आचरण में मुसलमानों की उदारता का अनुकरण नहीं किया, न मुसलमानों ने हिन्दुओं से यह सीखने का प्रयास किया कि हमें दूसरे धर्मों का भी उतना ही सम्मान करना चाहिए, जितना सम्मान हम अपने धर्म का करते हैं। यदि मुसलमानों ने यह शिक्षा ली होती तो अकबर का वे विरोध नहीं करते, न औरंगज़ेब के समय में फिर से मंदिरों का नाश हुआ होता।''[3]

अंग्रेजों के आने के बाद जब आधुनिकता का नया चरण आरंभ हुआ तब भारतीय संस्कृति के निर्माण में हिंदू और मुसलमान का भेद कैसे बड़ी भूमिका निभा रहा था और कैसे इसने भारत विभाजन की पूर्वपीठिका तय की थी इसका संकेत देते हुए दिनकर जी लिखते हैं, ''हिंदुओं और मुसलमानों ने यूरोप का सांस्कृतिक मुक़ाबला एक होकर नहीं किया। ईसाइयत और बुद्धिवाद से लड़ने के क्रम में हिंदू वेदों और उपनिषदों की ओर भागे तथा मुसलमान क़ुरान और हदीस की ओर। नतीजा यह हुआ कि दोनों धर्मों की वे बातें बहुत प्रमुख हो गईं जो उन्हें अलग करने वाली थीं और वे लक्षण उपेक्षित हो गए, जो उन्हें परस्पर समीप ला रहे थे। उन्नीसवीं सदी के नवजागरण से प्रेरित होकर हिंदू और मुसलमान जागे तो सही लेकिन अलग-अलग शिविरों में। नवजागरण ने उन्हें एक करने के बदले परस्पर कुछ और दूर कर दिया।''[4]

इस बात को और स्पष्टता से समझने के लिए हमें किशोरीदास वाजपेयी द्वारा

लिखित और दिनकर जी की पुस्तक से संबंधित ''संस्कृति का पाँचवा अध्याय'' पुस्तक देखनी चाहिए जो बहुत बारीकी से इस मुद्दे को उठाती है। जिसमें वे कहते हैं कि मत, मजहब, संप्रदाय आदि का भिन्न होना स्वाभाविक है, उससे समस्या नहीं आती, अगर जातीयता और संस्कृति एक है तो देश एक रहता है परंतु संस्कृति के भिन्न होने पर समस्या शुरू हो जाती है- ''भारतीय जाति में - इंडियन नेशन में - बाहर से आ-आ कर शक, हूण आदि न जाने कितनी जनधाराएं मिलीं और खप गईं। आज कौन कहता है कि हमारे पुरखे शक या हूण थे? सब भारतीय रंग में रंग गए। किसी को शकों या हूणों का वंशज कह दो, तो वह गाली समझता है।... मत-मजहब चाहे जो मानते रहो। एक जाति में सैकड़ों मत-मजहब रह सकते हैं। कोई ईश्वर को मानता है, कोई नहीं मानता; दोनों ही 'भारतीय' हैं, यदि भारतीयता उनमें है।''[5]

भारतीय परिवेश में सांस्कृतिक भिन्नता को स्पष्ट करते हुए स्वाधीनता संघर्ष में सक्रिय भूमिका निभाने वाले किशोरीदास वाजपेयी लिखते हैं, ''यदि किसी देश में इक्का-दुक्का कुछ अन्य देश के लोग जाते बसते रहते हैं तब वैसे संघर्ष की कोई बात नहीं उठती। कोई भय नहीं, कोई खटका नहीं। जब अधिक संख्या हो जाती है और अधिकार का सवाल उठने लगता है, तब स्थिति बदलती है। भारत में जो विभिन्न देशों से मुसलमान आए थे, वे यहाँ मिले नहीं। उनमें अपने पुराने राष्ट्रों की राष्ट्रीयता या जातीयता का उतना जोर न था, जितना मज़हब या संप्रदाय का और 'भारतीय' न बनने का हठ। फलत: तुर्क, अरब, ईरानी आदि सभी जातियों के मुसलमान मिल गए और सबकी एक संस्कृति बन गई, जिसको 'मुस्लिम संस्कृति' नाम दिया गया। यह मुस्लिम संस्कृति न तो अरब की संस्कृति थी न तुर्की या ईरान की। सब गड्डमड्ड और फिर उसमें हिन्दुस्तानी रंग। इस मुस्लिम संस्कृति ने संघर्ष किया और देश का बँटवारा करा लिया। यानी संस्कृति भेद से संघर्ष प्राय: हो जाता है। यदि संस्कृति भेद न हो, केवल मत मज़हब या संप्रदाय का भेद हो, तो फिर जातीय संघर्ष नहीं होता। एक ही जाति है तब संघर्ष कैसा! इसलिए चीन में कभी भी बौद्ध-मुस्लिम संघर्ष नहीं हुआ और जापान में शिन्तो-बौद्ध संघर्ष नहीं हुआ।[6]

भारत में रह कर भी बहुसंख्यक इस्लाम मतावलंबी, चीन या जापान की तरह या इंडोनेशिया के मुसलमानों की तरह भारतीय महाजाति के अंग नहीं बन सके। यहां तक कि नामों पर भी भारतीय रंग चटकदार नहीं रहा। जबकि चीन के मुस्लिम अधिकारियों के नाम 'हू दहाई', 'झेंग हे' जैसे मिल जाते हैं और इंडोनेशिया के

प्रमुख का नाम ‘सुकर्णो’ मिल जाता है।

दिनकर जी ने युद्ध और बुद्ध के द्वैत को, निवृत्ति और प्रवृत्ति के द्वंद्व को, भौतिकता और आध्यात्मिकता के अंतर्विरोध को और हृदय और मस्तिष्क के बीच होने वाले संघर्ष को बार-बार उठाया है और शांति के पक्ष में खड़े होते हुए भी युद्ध की अनिवार्यता को स्पष्ट किया है। क्षमा के महत्व को स्थापित किया है पर शक्ति के बग़ैर क्षमा अपना अर्थ नहीं रखती, यह भी कहा है-

“क्षमा शोभती उस भुजंग को, जिसके पास गरल हो
उसको क्या जो दंतहीन, विषरहित, विनीत, सरल हो”[7]

अगर प्रतिपक्ष का बौद्धिक स्तर निम्न हो तो बुद्ध की प्रमुखता से नुक़सान भी होता है आक्रामक भेड़िए के समक्ष बुद्ध बनने से काम नहीं चलता है।

“क्षमा, दया, तप, त्याग, मनोबल, सबका लिया सहारा
पर नर व्याघ्र सुयोधन तुमसे; कहो, कहाँ, कब हारा?
सच पूछो, तो शर में ही, बसती है दीप्ति विनय की
सन्धि-वचन संपूज्य उसी का, जिसमें शक्ति विजय की।”[8]

ये विचार कविता में तो सांकेतिक रूप से आए हैं, आलोचना में दिनकर जी ने इसे स्पष्ट रूप से व्याख्यायित किया है। ‘संस्कृति के चार अध्याय’ पुस्तक में ‘हलाहल का विस्फोट’, ‘अमृत की पराजय’, ‘पराजित पीयूष, दाराशिकोह’ जैसे शीर्षकों के माध्यम से उन्होंने नकारात्मक शक्तियों की केंद्रीयता को उकेरा है।

अपनी आलोचना में पुनरुत्थान अथवा पुनर्जागरण को दिनकर जी पर्याप्त महत्व देते हैं। यह सिर्फ़ संयोग नहीं है कि मैथिलीशरण गुप्त, जयशंकर प्रसाद और सुमित्रानंदन पंत के ऊपर उन्होंने अलग से लंबे लेख लिखे हैं जो ‘पंत, प्रसाद और मैथिलीशरण’ नामक पुस्तक में संकलित हैं। ध्यातव्य है कि मैथिलीशरण गुप्त और जयशंकर प्रसाद पर कुछ आलोचकों ने आरोप लगाया था और इन्हें गड़े मुर्दे उखाड़ने वाला बताने में भी संकोच नहीं किया था। पुनर्जागरण आंदोलन के बारे में दिनकर जी की स्पष्ट मान्यता है कि “यह आंदोलन भारत में नई मानवता के जन्म का आंदोलन है एवं उसके प्रवाह के साथ केवल यूरोपीय विचार ही भारत में नहीं आ रहे हैं, बल्कि इस देश के बहुत से प्राचीन विचार भी नवीनता प्राप्त कर रहे हैं। पौराणिक कथाओं पर इस आंदोलन ने नई आभा बिखेरी है एवं इसके आलोक में हमारे इतिहास की अनेक घटनाएँ और अनेक नायक नई ज्योति से जगमगाने लगे हैं”[9]

निवृत्ति और प्रवृत्ति का द्वंद्व नया नहीं है। निवृत्ति और अपरिग्रह को भारतीय संस्कृति की बड़ी उपलब्धि की तरह देखा जा सकता है। परंतु आधुनिक समाज में प्रवृत्ति का पलड़ा लगातार भारी होता चला गया और अब तो यह स्थिति हो गयी है कि इसके बोझ से पृथ्वी कराहने लगी है। भोग की अनंत इच्छा आज के समय और समाज को संचालित कर रही है। दिनकर लगभग 70 साल पहले इस विसंगति को पकड़ते हुए इसके दोनों पक्षों पर टिप्पणी करते हैं:

''प्रवृत्ति के उत्थान के बाद कारण जीवन से भागने की भावना और वैराग्य दोनों ही मंद पड़ने लगे। शास्त्र प्रमाण और परंपरा के बंधन ढीले होने लगे एवं स्वर्ग और नरक की कल्पनाएं निस्सार मानी जाने लगीं। धीरे-धीरे जीवन बहिर्मुखी होने लगा जिसके कुछ दुष्परिणाम भी निकले हैं किन्तु भारत के मानस में मध्यकालीनता का जो कुहरा व्याप्त था वह बहुत दूर तक छँट गया है। जंजीरों से छूटी हुई बुद्धि अनेक ऐसे क्षेत्रों में विचरण करने लगी जहाँ पहले उसका प्रवेश भी निषिद्ध था''[10]

प्रवृत्ति की सीमाओं को रेखांकित करते हुए दिनकर जी लिखते हैं, ''इटली में रेनेसाँ के बाद अचानक धन में भी वृद्धि आयी और धन की वृद्धि से अनैतिकता को प्रोत्साहन मिलने लगा। समाज का जो वर्ग सबसे अधिक सुखी था वहाँ बुद्धिवाद का विकास भी उसी के बीच हुआ था। जब भीतर आनंद भोगने की उद्दाम इच्छा और बाहर सुख के सभी साधन उपलब्ध हों तब विरला ही व्यक्ति होगा जो संयम के उपदेश से रुष्ट न हो। 'रेनेसाँ' के समय इटली के संपन्न लोगों ने भी यही किया।... परिणाम यह हुआ कि वे भोगवादी दर्शन की और उत्साह से दौड़ पड़े जिसकी शिक्षा यह थी कि जीवन आनंद भोगने को प्राप्त हुआ है।''[11]

पूरे भारत की सांस्कृतिक एकता, भौगोलिक रूप से पूरे देश के स्थानों का हमारे महाकाव्यों में आना (जैसे राम कथा में जनकपुर, अयोध्या, पंचवटी, रामेश्वरम आदि का वर्णन) और अंतरराष्ट्रीय जीवन दृष्टि को दिनकर जी ने प्रमुखता दी है उन्होंने लिखा है कि ''भारत का मन हमेशा से राष्ट्रीय कम अंतरराष्ट्रीय अधिक रहा है। प्राचीन काल में यहाँ राष्ट्रीयता के जो भाव विकसित भी हुए, उनका आधार राजनीति और अर्थशास्त्र नहीं, प्रत्युत, संस्कृति और धर्म थे। भारतवासी अपने राष्ट्र पर अभिमान तो करते थे, किन्तु, इस कारण नहीं कि वह बली और समृद्ध देश था, प्रत्युत, इसलिए कि उसकी संस्कृति महान थी, वह अध्यात्म की कर्मभूमि थी और देवता वहाँ देह धरकर प्रकट होने के लिए लालायित रहते थे।''[12]

भारत भूमि को एक सूत्र में पिरोने में, भारतीय संस्कृति को वर्तमान रूप देने में और भिन्न परिवेश वाले सुदूर राज्य के व्यक्ति की बातों को भी लोक के स्तर पर साधारणीकृत करने में जिसकी सबसे बड़ी भूमिका रही है वे 'राम' हैं। श्री राम भारतीय संस्कृति के ऐसे आधार स्तंभ हैं जिनके बगैर भारतीय दैनंदिन जीवन की कल्पना करना मुश्किल लगता है। श्रीराम की इस भूमिका को रामधारी सिंह दिनकर अलग से रेखांकित करते हैं: ''भारत में संस्कृतियों का जो विराट समन्वय हुआ है, राम कथा उसका अत्यंत उज्जवल प्रतीक है। सबसे पहले तो यह बात है कि इस कथा से भारत की भौगोलिक एकता ध्वनित होती है। एक ही कथासूत्र मैं अयोध्या, किष्किन्धा और लंका तीनों के बंध जाने के कारण, सारा देश एक दिखता है। दूसरे, इस कथा पर भारत की सभी प्रमुख भाषाओं में रामायणों की रचना हुई, जिनमें से प्रत्येक, अपने-अपने क्षेत्र में, अत्यंत लोकप्रिय रही है तथा जिनके प्रचार के कारण भारतीय संस्कृति की एकरूपता में बहुत वृद्धि हुई है।... यह मानना पड़ेगा कि राम कथा न केवल भारतीय वरन एशियाई संस्कृति का भी एक महत्वपूर्ण तत्व बन गई थी।''[13]

रामधारी सिंह दिनकर भारतीय संस्कृति की नब्ज़ को पहचानते थे, पूरी दुनिया में जो बात इस संस्कृति को विशेष बनाती है वह इसकी पाचन शक्ति है। दिनकर जी ने लिखा है कि ''हिन्दू संस्कृति की पाचन शक्ति बड़ी ही प्रचंड मानी गई है।... हिन्दू संस्कृति ने अनेक संस्कृतियों को पीकर अपनी ताक़त बढ़ायी है।''[14] उन्होंने दूसरे देशों के इतिहासकारों (मिस्टर डाडवेल, मिस्टर जोड आदि) का उदाहरण देकर बताया है कि भारतीय संस्कृति की सबसे बड़ी विशेषता इसका समन्वयवादी स्वरूप और विविधताओं को स्वीकार करने की अद्भुत क्षमता है।

दिनकर का अधिकांश आलोचनात्मक लेखन उस दौर का है जब भारत, देश विभाजन, घनघोर गरीबी और युद्ध को झेलते हुए खड़ा होने का प्रयास कर रहा था। ऐसी स्थिति में कड़वाहट का आना और 'स्व' की चिंता करना स्वाभाविक माना जाता परंतु दिनकर की सांस्कृतिक दृष्टि की सबसे बड़ी विशेषता यह रही है कि वह विभाजन के स्थान पर समन्वय को प्रमुखता देती है, आत्म की साधना करने वाली संस्कृति कहीं भी आत्मकेंद्रित नहीं होती है अपितु वह हमेशा विश्व को केंद्र में रखती आयी है। निवृत्ति और अपरिग्रह पर

बल देने के बाद भी वह परलोक सुधारने के स्थान पर धरती की और अतीत के स्थान पर वर्तमान की बात करती है। अगर भविष्य में 'वसुधैव कुटुंबकम' की भावना साकार रूप लेती है तो वह इसी संस्कृति के माध्यम से संभव होगा। इस बात को विदेशी विद्वान मिस्टर जोड के हवाले से स्वीकार करते हुए दिनकर लिखते हैं: ''संसार के सामने आज जो सबसे बड़ा सवाल पेश है, वह यह है कि दुनिया की अनेक जातियों, अनेक वादों और विचारों तथा अनेक संस्कृतियों के बीच समन्वय स्थापित करके हम विश्व संस्कृति का निर्माण कैसे कर सकते हैं। स्पष्ट ही, संसार को उसी मार्ग को अपनाना पड़ेगा, जिस मार्ग पर चलकर भारतवर्ष अपने यहाँ की विभिन्न संस्कृतियों के बीच एकता या मेल बिठाता रहा है। इसलिए, मिस्टर जोड ने भारत की इस योग्यता को विश्व मानवता के लिए सबसे बड़ा वरदान कहा है।''[15]

दिनकर जी की वास्तविक चिंता केवल साहित्य तक सीमित नहीं रहती है बल्कि वे हज़ारों साल की परंपरा की निरंतरता को आज से जोड़ कर देखते हैं और राष्ट्रीय एकता की चिंता करते हुए उसको मज़बूत बनाने का सुझाव भी देते हैं और इसमें कवियों लेखकों की भूमिका को अलग से रेखांकित करते करते हुए लिखते हैं कि "असल में, नाव जहाँ जाकर अटक गई है, सरकारों की बाहें वहाँ तक पहुँच नहीं सकतीं। वहाँ केवल वे लोग जा सकते हैं, जो सन्त और सुधी हैं, विचारक और कलाकार हैं। जो लोग जनता की भावनाओं को मोड़ने का काम करते हैं, जो लोग जनता में नया विश्वास और नई प्रेरणाएं जगा सकते हैं, वे यदि इस महान कार्य में हाथ लगाएं तो कई पीढ़ियों तक काम करने के बाद वह चट्टान तोड़ी जा सकती है, जो एकता की धारा को आज रोके हुए है।''[16]

भारतीय संस्कृति इसीलिए सनातनधर्मी है, क्योंकि यह 'स्व' की नहीं 'सर्व' की चिंता करती है। अनेक रूपों में यह 'सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः' का सन्देश देती है। दिनकर अपने प्रिय कवि मैथिली शरण गुप्त की निम्न पंक्तियों को बार-बार यूं ही उद्धृत नहीं करते हैं:

"भव में नव वैभव व्याप्त कराने आया,
नर को ईश्वरता प्राप्त कराने आया
संदेश यहाँ मैं नहीं स्वर्ग का लाया,
इस भूतल को ही स्वर्ग बनाने आया।"[17]

संदर्भ

1. दिनकर, रामधारी सिंह. (2010). संस्कृति के चार अध्याय. इलाहाबाद, लोकभारती प्रकाशन, (भूमिका)
2. दिनकर, रामधारी सिंह. (2010). संस्कृति के चार अध्याय. इलाहाबाद, लोकभारती प्रकाशन, पृ.524
3. दिनकर, रामधारी सिंह. (2010). संस्कृति के चार अध्याय. इलाहाबाद, लोकभारती प्रकाशन, पृ.525
4. दिनकर, रामधारी सिंह. (2010). संस्कृति के चार अध्याय. इलाहाबाद, लोकभारती प्रकाशन, पृ.526
5. वाजपेयी, किशोरीदास. (1956). संस्कृति का पांचवां अध्याय, कनखल, हिमालय एजेंसी, पृ.17
6. वाजपेयी, किशोरीदास. (1956). संस्कृति का पांचवां अध्याय, कनखल, हिमालय एजेंसी, पृ.27
7. http://kavitakosh.org/kk/ शक्ति और क्षमा / रामधारी सिंह ''दिनकर
8. http://kavitakosh.org/kk/ शक्ति और क्षमा / रामधारी सिंह ''दिनकर
9. दिनकर, रामधारी सिंह. (2009). पंत, प्रसाद और मैथिलीशरण. इलाहाबाद, लोकभारती प्रकाशन,पृ.9
10. दिनकर, रामधारी सिंह. (2009). पंत, प्रसाद और मैथिलीशरण. इलाहाबाद, लोकभारती प्रकाशन,पृ.12
11. दिनकर, रामधारी सिंह. (2009). पंत, प्रसाद और मैथिलीशरण. इलाहाबाद, लोकभारती प्रकाशन,पृ.13
12. दिनकर, रामधारी सिंह. (2010). संस्कृति के चार अध्याय. इलाहाबाद, लोकभारती प्रकाशन, पृ.67
13. दिनकर, रामधारी सिंह. (2010). संस्कृति के चार अध्याय. इलाहाबाद, लोकभारती प्रकाशन, पृ.77
14. दिनकर, रामधारी सिंह. (2010). संस्कृति के चार अध्याय. इलाहाबाद, लोकभारती प्रकाशन, पृ.85
15. दिनकर, रामधारी सिंह. (2010). संस्कृति के चार अध्याय. इलाहाबाद, लोकभारती प्रकाशन, पृ.85

16. दिनकर, रामधारी सिंह. (2010). संस्कृति के चार अध्याय. इलाहाबाद, लोकभारती प्रकाशन, पृ.526
17. http://kavitakosh.org/kk/साकेत / मैथिलीशरण गुप्त / अष्टम सर्ग / पृष्ठ 3

संयुक्त निदेशक
एसओएल, दिल्ली विश्वविद्यालय

दिनकर के काव्य की युग चेतना : पृष्ठभूमि और व्याप्ति

— डॉ. अजीत कुमार पुरी

साहित्य समाज का दर्पण है, ऐसी मान्यता अति प्राचीन काल से चली आ रही है। समाज में घट रही घटनाओं के आलोक में कवि मानस कृतित्व के लिए तैयार होता है। संवेदनाएं उसके भावों में सहज रूप से अभिव्यक्त होने लगती हैं। उपयुक्त भाषा इसे एक ओर गंभीर अर्थवत्ता प्रदान करती है तो दूसरी ओर उसमें प्रकट होने वाले विचार कालजई हो जाते हैं। आदि कवि वाल्मीकि का क्रौंच जोड़े को देखकर द्रवित हो जाना और अनायास ही छंद का प्रकट हो जाना यह सिद्ध करता है कि चिंतक-मनीषी, कवि जीव मात्र के कष्ट को देखकर संवेदित होते हैं और अपनी भावनाओं को अभिव्यक्त करते हैं। सभी भाषाओं का साहित्य इस दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण है। हिंदी का साहित्य भी इन्हीं आधारों पर निर्मित हुआ। रासो साहित्य हो या भक्ति साहित्य सबमें में उस समय की युगीन चेतना अपने पूरे वैशिष्ट्य के साथ उद्घाटित होती रही है। आगे चलकर रीति कवि कविता की शैली को लेकर भले ही कुछ समय शिल्प को लेकर उलझे किंतु भूषण जैसे कवियों की दृष्टि फिर भी अपने समय पर थी और छत्रपति शिवाजी महाराज और छत्रसाल जैसे वीर योद्धाओं के पराक्रम की अपनी कविता में उन्होंने भूरि-भूरि सराहना की क्योंकि वे निर्बलों के पक्ष में खड़े होकर धर्मयुद्ध कर रहे थे।

भारतीय साहित्य और विशेषकर हिन्दी साहित्य में युगीन चेतना की प्रतिध्वनि बहुत गहरी और व्यापक रही है। **“भारतीय साहित्य में राष्ट्रीय चेतना का प्रवाह अजस्र-अविरल है। हिमगिरि से उद्भूत गंगा जिस प्रकार अनेक पथ पार कर, अनेक रूप ग्रहण करते हुए भारत के विभिन्न क्षेत्रों को आप्लावित करती है, अपनी पावनता से समस्त भारतीय जन को नाना प्रकार से तृप्त करती**

है, उसी प्रकार उसी उत्तुंग हिमगिरि की गुफा कन्दराओं और तपोभूमियों में साधना-लीन मनीषियों की राष्ट्र विषयक परिकल्पना भारत के जन मानस को विविध शैलियों और भंगिमाओं से संपन्न बहुआयामी साहित्यिक रचनाओं के माध्यम से संतृप्त और सप्रेरित करती रही है।"[1] हिन्दी में रासो काल के हिन्दी कवियों ने वीर नरेशों के प्रति यदि गहरी निष्ठा व्यक्त की तो भक्त कवियों ने भगवान की भक्ति में डूबकर ऐसा निर्मल भाव प्रसारित किया कि जिससे भारतवर्ष का कोना-कोना जगमग हो गया। समाज में छाया नैराश्य दूर हो गया। मराठे, सिख,जाट, सतनामी आदि युद्ध के रण में उतर आए और भारतवर्ष के खोए गौरव को स्थापित करने के लिए चहुंओर संग्राम छिड़ गया। उधर ईसा की उन्नीसवीं सदी तक आते-आते वैश्विक परिदृश्य में आमूलचूल परिवर्तन आ गया। यूरोप में पुनर्जागरण का जो आंदोलन शुरू हुआ उसने वहां के समाज को बदलकर रख दिया। बड़ी तेजी से यूरोप के राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक तंत्र बदलने लगे। व्यापार के लिए ईस्ट इंडिया कंपनी का बनना इतिहास की एक महत्त्वपूर्ण घटना है। इसका भारत आगमन और बहुत तेजी से इसका राजनीतिक विस्तार भारतवर्ष की स्वाधीनता के लिए संकटप्रद हो गया। 1857 तक आते-आते जब तक भारतीय कुछ समझ पाते तब तक लगभग आधे भारतवर्ष पर ईस्ट इंडिया कंपनी का अधिकार हो गया। भारतीय नरेशों ने प्रतिकार करने का प्रयत्न अवश्य किया किन्तु सफलता नहीं मिली। भारत के उन भूभागों में राजनीतिक दासता ने स्थान बना लिया। ईसाईयत ने अँग्रेजी शासन का बल पा हिन्दू धर्म पर आक्रमण करने प्रारंभ कर दिए और नवशिक्षित हिन्दू ईसाईयत की चपेट में आने लगे। भारतीय मेधा ने इसका सफल प्रतिकार किया। स्वामी दयानन्द सरस्वती जैसे मनीषी सामने आए और देखते ही देखते आर्य समाज एक विराट आंदोलन बनकर उभरा। आर्य समाज की गतिविधियों के केंद्र में हिन्दी प्रदेश थे, इसलिए समय के अनुरूप हिन्दी साहित्य भी नई करवट लेने लगा। सर्वत्र स्वाधीनता,धर्म रक्षा के स्वर गुंजायमान होने लगे। बदलते परिदृश्य में हिन्दी को भारतेंदु का नेतृत्व मिल गया। राजनीतिक पराधीनता के विरुद्ध साहित्य मोर्चा लेने लगा, इसी पृष्ठभूमि में दिनकर के मानस का निर्माण हुआ।

दिनकर जब साहित्य सर्जना में उतरे तब छायावाद का बोलबाला था। कालांतर में प्रगतिवाद के नाम पर साम्यवादी दृष्टि से साहित्य रचा जाने लगा।

किन्तु दिनकर ने जिस विचार को आत्मसात किया उसी पर आगे बढ़ते रहे। 1908 में जन्मे दिनकर 1930 तक आते आते कविता के क्षेत्र में उतरे उस समय छायावाद से प्रभावित हो काव्य रचना का श्रीगणेश हुआ किन्तु **"1933 तक आकार उन्होंने तुतलाना छोड़ दिया और भैरव हुंकार के लिए चाँदी का उज्ज्वल शंख अपने हाथ में उठा लिया। 1933 का वर्ष दिनकर की काव्य-संवेदना के स्थिर होने का वर्ष है।"**[2] हिमालय नामक कविता दिनकर ने एक ही रात में रच डाली थी और भागलपुर में आयोजित बिहार हिन्दी साहित्य सम्मेलन में जब कवि दिनकर ने इस कविता का ओजस्वी पाठ किया तो प्रसिद्ध इतिहासकार काशी प्रसाद जायसवाल जैसे मनीषी भी अपने आप को नहीं रोक सके और उन्हें गले लगा लिया था। दिनकर ने अपने समय के युवक मन को समय रहते ताड़ लिया और देश में अंग्रेजों के विरुद्ध उठ रहे जन-ज्वार को ठंढा नहीं पड़ने दिया। यह वह समय था,जब गांधी का असहयोग आंदोलन कमजोर पड़ गया था और भारतवर्ष का युवा अंग्रेजों को मार भगाने के लिए आतुर था। दिनकर ने अपनी ओजस्वी कविता के माध्यम से समाज में वीर भाव उत्पन्न करने का महनीय कार्य किया और कई बार अँग्रेजी सरकार के कोपभाजन बनते-बनते भी रह गए।

दिनकर का रचना-काल 1927 से 1974 ईस्वी तक कुल 27 वर्षों तक रहा। इस अवधि में दिनकर अंग्रेज सरकार की सेवा में भी रहे। एक राष्ट्रभक्त नागरिक के लिए व आत्मचेता कवि के लिए यह बहुत बड़ी दुविधा का समय था किन्तु दिनकर तमाम तरह की बाधाओं के बीच अपनी साहित्य सर्जना में लगे रहे। 'विजय संदेश' से जो काव्य सृजन की श्रृंखला प्रारंभ हुई वह रेणुका, हुंकार, रसवंती, कुरुक्षेत्र, सामधेनी, रश्मिरथी, नीलकुसुम आदि काव्य संग्रहों तक व्याप्त होती चली गई। इन रचनाओं में दिनकर की अपनी आत्माभिव्यक्ति तो हुई ही है, तत्कालीन युगबोध भी प्रकट होकर सामने आ गया है। दिनकर का युग भारतीय स्वाधीनता संग्राम का युग है। उस समय भारतवर्ष के लगभग आधे भाग पर ब्रिटिश शासन हो गया था। अंग्रेजों ने अपने शासित भारतीय भूभाग में एक ऐसा लूट तंत्र स्थापित कर दिया था कि जिसकी चपेट में आकर देशवासी निर्धन होते जा रहे थे। आर्थिक चोट सह रहे नागरिक सांस्कृतिक रूप से भी हत हो रहे थे। भारत राष्ट्र का सांस्कृतिक गौरव धूमिल होने को आ रहा था। कवि को यह स्वीकार्य नहीं

था। दूसरी ओर अँग्रेजी शिक्षा प्राप्त भारतियों का समूह अँग्रेजी आचार-विचार का अनुकरण करने में मगन हो रहा था। दिनकर की अपनी सीमाएं भी थीं। वे उसी अँग्रेजी सरकार के मातहत कार्यरत थे, जो सभी समस्याओं की जड़ में था। किन्तु दिनकर ने अपनी काव्य प्रतिभा के सहारे शासन को छकाया ही नहीं अपितु वे बिंबों और प्रतिकों के माध्यम से समाज तक अपनी बात पहुंचाने में सफल रहे।

'हिमालय' में दिनकर हिमालय को माध्यम बनाकर अपने युग से ही संवाद कर रहे थे। कवि जब हिमालय को संबोधित करते हुए कहता है कि-

कैसी अखंड यह चिर समाधि ?
यतिवर यह कैसा अमिट ध्यान ?
तू महाशून्य में खोज रहा
किस जटिल समस्या का निदान ?
उलझन का कैसा विषम जाल ?[3]

तब वह भारतवर्ष में प्रचलित निवृति मार्ग को ही संकेतित कर रहा है और युग की आवश्यकता के अनुरूप प्रवृति मार्ग पर चलने का आह्वान करता है। सहनशीलता के नाम पर समाज अन्याय और अत्याचार को सहन करे, कवि इससे अपनी असहमति प्रकट करता है। देखा जाए तो हिन्दी प्रदेश में आर्य समाज के प्रवृत्तिमार्गी आंदोलन का गहरा प्रभाव समाज पर पड़ रहा था और दिनकर जैसे कवि भी इससे अछूते नहीं रह सके। भारत देश की लुट रही संपदा को वह बहुत ही गंभीरता से उद्घाटित करता है। कवि इस स्थिति को कुछ इस प्रकार प्रतिपादित करता है –

उस पुण्यभूमि पर आज तपी !
रे, आन पड़ा संकट कराल,
व्याकुल तेरे सुत तड़प रहे,
डंस रहे चतुर्दिक विविध व्याल।[4]

ईसा की बीसवीं सदी में जब 'काम' को लेकर तमाम तरह के चिंतन चल रहे थे और यूरोपीय अनुकरण की प्रक्रिया में कुछ लोग फ्रायड से प्रभावित हो रहे थे, तब दिनकर ने 'उर्वशी' में इस विषय पर गहनता से विचार किया और प्रेम की भारतीय मर्यादा को स्थापित किया। उर्वशी और पुरूरवा के संवाद में भारतीय चिंतन परंपरा का ऐसा अवगाहन हुआ है कि लगता ही नहीं कि हजारों वर्षों का

संचित इतनी सहजता से कविता में बंधकर आ सकता है। नर और नारी के परस्पर संबंध, उनके कर्त्तव्य, प्रेम की मर्यादा सब पर कवि ने पैनी दृष्टि से विचार किया है और कोई पक्ष छूटने नहीं पाया है। दिनकर ने यहाँ नर-नारी संबंधों को संपूर्णता में देखने का प्रयास किया है और धर्मशास्त्रों की मीमांसा भी की है। यही कारण रहा कि हिन्दी में मार्क्सवादी खेमें की आलोचना ने इस काव्य रचना की ओर बहुत ध्यान नहीं दिया और भगवतशरण उपाध्याय तथा मुक्तिबोध जैसे कवि-आलोचकों ने अपनी बनी बनाई सीमा में मीन मेख निकालने का कार्य किया। किन्तु दिनकर की इस रचना में जीवन के शाश्वत मूल्यों की तह में जाने का जो प्रयास हुआ है वह इतना महत्त्वपूर्ण है कि इसकी कभी अवहेलना नहीं किया जा सकता। इस संबंध में उनका स्पष्ट मत था कि - " उर्वशी में प्रेम की मादकता और उसके रहस्यवादी रूप का चित्रण करने पर भी दिखलाया यही गया है कि पुरूरवा अपने कर्मों का भार वहन करने में असमर्थ हो गए। इससे ध्वनित यही होता है कि काम मुक्ति का मार्ग नहीं है। मनुष्य मुक्त तभी होता है, जब अपने आप पर उसका पूरा अधिकार हो जाता है।"[5]

दिनकर के लिए वह समय बहुत दुविधाग्रस्थ रहा जब वे अंग्रेज़ सरकार के अधीन युद्ध प्रचार विभाग में कार्यरत थे। द्वितीय विश्वयुद्ध के समय कांग्रेस इससे अलग हो गई। सारे देश में 'अंग्रेजों भारत छोड़ो' का स्वर बुलंद हो रहा था और दिनकर को मन मारकर अंग्रेजों की सेवा करनी पड़ रही थी। कवि का हृदय देश के साथ था। वे अपने युग की पुकार को अनसुना नहीं कर सके और 'कुरूक्षेत्र' में युगीन चेतना को वाणी देने के लिए तैयार हो गए। **" दिनकर ने 'कुरूक्षेत्र' एक पाँव वर्तमान में और एक पाँव अतीत में रखकर लिखा।"**[6] भीष्म और युधिष्ठिर के मध्य संवाद महाभारत की ओट में युगीन समस्याओं से टकराते हैं। क्योंकि कोई भी रचनाकर अपने समय से बाहर नहीं जा सकता। कालजयी रचनाकर वही होता है, जो अपने समय की समस्याओं से जद्दोजहद कर सके। दिनकर ऐसे ही कवि हैं जिन्होंने अपने समय की आवाज को सुना और अपनी रचनाओं में उसे पिरो दिया।

भारत विभाजन की पृष्ठभूमि में, 1947 में आधा भारत जोकि अंग्रेजों के सीधे नियंत्रण था, वह मुक्त कर दिया गया और शासन सूत्र कांग्रेस के हाथों में आ गया। देशी प्रान्तों को भी पटेल के नेतृत्व में आधुनिक भारतीय गणतन्त्र में सम्मिलित

कर लिया गया। सर्वत्र नारों का बोल बाला था। पंचवर्षीय योजनाओं के माध्यम से देश को सम्पन्न बनाने के यत्न हो रहे थे। कुछ काल व्यतीत होने के बाद यथार्थ सामने आ ही गया। दिनकर से यह सहन नहीं हुआ और उन्होने **'जनतंत्र का जन्म'** में जो स्वर निसृत किया, उसकी भीषण हुंकार हमें **'परशुराम की प्रतीक्षा'** में सुनाई देती है। 1962 के चीनी आक्रमण के समय दिनकर पटना में थे और रुग्णावस्था में थे। चीनी आक्रमण और भारत शासन की निष्क्रियता ... देश दोनों को देखकर अवाक रह गया। कवि ने अपने समय के मनोभावों को काव्य में गुंथने का संकल्प लिया और जिस नेहरू में दिनकर ने लोकदेवता की छवि देखि थी, उसी में कायरता के भाव को देख उसकी भर्त्सना करने से वे अपने को रोक न सके। 'परशुराम की प्रतीक्षा' ने सुषुप्त भारत को हिलाकर जागा दिया। दिनकर ने अपनी डायरी में लिखा – **" चीनी आक्रमण घोर अभिशाप है, लेकिन यह वरदान में बदला जा सकता है, अगर सरकार जनता के उत्साह को दिशा दे सके। लड़ाई देर तक चले और सभी इलाकों के लोग उससे थोड़ा जल सकें, जनता यह समझेगी की आजादी कितनी कीमती है और उसकी रक्षा कैसे की जानी चाहिए।"**[7] 'परशुराम की प्रतीक्षा' काव्य संग्रह इस दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण है कि कवि ने इसके माध्यम से तत्कालीन भारतीय राजनीति व्यवस्था की विद्रूपताओं पर प्रहार तो किया ही है, साथ ही विचार के क्षेत्र में जो मनमानी स्थापनाएँ गढ़ी जा रही थी, उसकी भी कलई खोल कर रख दी है-

गीता में जो त्रिपिटक-निकाय पढ़ते हैं,
तलवार गलाकर जो तकली गढ़ते हैं;
शीतल करते हैं अनल प्रबुद्ध प्रजा का,
शेरों को सिखलातें हैं धर्म अजा का; [8]

भारतवर्ष में वीर भाव कि उपेक्षा का इतिहास नहीं रहा है। कई-कई बार भारतीय रणबांकुरों ने देश व समाज की रक्षा के लिए समरांगण में देश के शत्रुओं का मानमर्दन किया और समाज की आततांईओ से सुरक्षा की। किन्तु गांधी ने ईसा की बीसवीं सदी में आकर सत्याग्रह और अहिंसा के नाम पर वीर भावना को जिस तरह से तिरोहित किया। उससे समाज में कायरता को अहिंसा का आवरण मिल गया। जिस वृत्ति से समाज अपनी रक्षा करता आ रहा था, वही निंदित कर्म मान ली गई। इससे देश को बहुत क्षति उठानी पड़ी। चूंकि सेना का मनोबल भी समाज

के मनोबल के आधार पर निर्मित होता है, इसलिए कवि ने तत्कालीन परिस्थियों में यह आवश्यक समझा कि समाज में वीर भावना जागृत रहे, इस हेतु उसने उन सभी कथनों का पुरजोर खंडन किया, जो समाज में नैराश्य को बढ़ाने वाले थे और जिसे अहिंसा की ओट में प्रचारित किया जा रहा था। इस दृष्टि से दिनकर के काव्य का स्थाई महत्त्व है।

ईसा की बीसवीं सदी में भारत के लगभग आधे भाग पर नियंत्रण स्थापित करने में सफल रहे ब्रिटेन ने यहाँ के आर्थिक संशाधनों को ही नहीं लूटा अपितु ईसाई मिशनरियों के माध्यम से भारतीय इतिहास और संस्कृति को भी लांछित करने का प्रयास किया। अँग्रेजी व्यवस्था में दीक्षित नवशिक्षित भारतीयों का समूह इस कुप्रचार की चपेट में सरलता से आ गया, परिणामस्वरूप देखते ही देखते ऐसी बहुत सी बातें समाज में स्थान बनाने लगीं जिनका कि कोई शास्त्रीय आधार नहीं था। दिनकर जैसे जागरूक कवि भी कहीं-कहीं इसकी चपेट में आ गए। **'रश्मिरथी'** काव्य में उनकी उद्भावनाएँ मूल रचना से मेल नहीं खाती। कर्ण के चरित्र को उठाने के क्रम में वे इतिहास की जैसी व्याख्या करने लगे, वैसा भारतीय परंपरा में कहीं कुछ नहीं था। भावुकता में आकर लेनिन की प्रशंसा करना भी युगीन प्रभाव ही कहा जा सकता है। **'हम स्टालिन युग के बच्चे हैं'** संसद में इस तरह के कथन जब उच्चारित हो रहे थे, तब स्वाभाविक है कि साहित्य पर भी इसका प्रभाव पड़ना ही था।

इस तरह देखा जाए तो दिनकर अपने युग के साथ चले, उन्होंने युग को अपने काव्य में प्रखर वाणी दी। इसलिए उन्हें 'युगचारण' भी कहा गया। भारत की सांस्कृतिक परंपरा को अपनी काव्य रचना में आकार देने वाले दिनकर ने प्राचीन कथा को आधार बनाकर अपने युग की आवश्यकताओं के अनुरूप वितान रचे। साथ ही ऐसी कविताएं भी रची जो युगीन परिप्रेक्ष्य को सामने लाती हैं। **'वारदोली विजय'** से प्रांरभ होकर **'हारे को हरिनाम'** तक की कविता यात्रा में दिनकर कभी भी अपने युग के बाहर नहीं गए। उनकी रचनाओं में उनके युग की छाप स्पष्ट दिख जाती है। प्रेम, श्रृंगार, वीरता के भावों का संवहन करने वाली उनकी काव्य-गंगा का धवल रूप इतना भव्य और गरिमामय है कि आने वाली पीढ़ियाँ इसमें गोता लगाती रहेंगी और उनके मानस का संस्कार होता रहेगा।

संदर्भ

1. मंजु लता तिवारी (सं.), भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम में हिन्दी कवियों का योगदान (1998) उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ, पृ.18
2. विजेन्द्र नारायण सिंह - रामधारी सिंह दिनकर (2005) साहित्य अकादमी, पृ. 11
3. रामधारी सिंह दिनकर - संचयिता, भारतीय ज्ञानपीठ (2008) दिल्ली, पृ. 28
4. वही, पृ. 29
5. कुमार विमल, दिनकर रचना संचयन (2008) साहित्य अकादमी, दिल्ली, पृ. 550
6. नन्दकिशोर नवल - आधुनिक हिन्दी कविता का विकास (2019) भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, पृ. 289
7. दिनकर की डायरी - लोकभारती (2019) दिल्ली, पृ. 62-61
8. परशुराम की प्रतीक्षा (2003) लोकभारती, दिल्ली, पृ.09

सहायक प्रोफेसर, हिंदी विभाग
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

दिनकर की युगचेतना

— खुशबू सिंह

''प्रकृति नहीं डर कर झुकती है कभी भाग्य के बल से,
सदा हारती वह मनुष्य के उद्यम से, श्रमजल से।
ब्रह्मा का अभिलेख पढ़ा करते निरुद्यमी प्राणी।
धोते वीर कु-अंक भाल का बहा भ्रुवों से पानी।।'' – कुरुक्षेत्र

किसी भी देश या जाति का साहित्य युग सापेक्ष होता है। तत्कालीन संदर्भों से जुड़कर ही वह अपने स्वतंत्र अस्तित्व को बनाए रखता है। कालक्रम की प्रवहमानता से दूर हटकर साहित्य की सार्थकता अकल्पनीय है, क्योंकि युग के हृदय का स्पंदन साहित्य की बहुमूल्य धरोहर है। प्रत्येक रचनाकार अपनी साहित्यिक कृतियों के माध्यम से युग को प्रभावित करता है या स्वयं युग से प्रभावित होता है। मौलिक साहित्य- सृजन की यह प्रक्रिया अनादिकाल से चली आ रही है। तत्कालीन समय की मॉग को देखते हुए रामधारी सिंह दिनकर ने भी लोगों में विचारों की क्रांति जगाकर अपने युग की पुकार को मुखरित करके लोगों को जाग्रत करके अपने कवि कर्म का पालन किया। इस संबंध में उनका कहना था, ''कविता भी साधना का एक मार्ग है। इससे भी मन का परिष्कार होता है।''[1] दिनकर का मानना था कि कला सिर्फ कला के लिए नहीं है अपितु यह जीवनोपयोगी एवं जीवन- सापेक्ष भी है।

व्यक्ति समाज, राष्ट्र और विश्व चेतना को प्रभावित करने वाली अनेक चिंतन धाराओं ने दिनकर के कवि हृदय को एक आदर्शवादी आंदोलन के लिए प्रेरित किया। दिनकर ने पूर्ण मनोयोग से अपने इस कर्तव्य का पालन किया। उन्होंने तत्कालीन समाज की समस्याओं एवं घटनाओं पर पैनी दृष्टि रखी तथा उनसे लोगों को रूबरू किया। साहित्य के संबंध में उनका मानना था, ''साहित्य को हम जीवन

की व्याख्या मानते हैं किंतु जीवन और उसकी इस व्याख्या के बीच एक माध्यम है जो व्याख्याता, कवि या कलाकार का निजी व्यक्तित्व है। कलाकार की मानसिक अवस्था- विशेष में जीवन अपने जिस कार्य में प्रगट होता है, उसी के भाव चित्रण को हम साहित्य कहते हैं।"[2] इस प्रकार उनकी रचनाएँ सदैव उद्देश्य से परिपूर्ण रहीं हैं।

उनके रचनाओं में व्यक्तित्व एवं समाज-तत्व दोनों की अभिव्यक्ति दिखाई पड़ती है। वास्तव में व्यष्टि के साथ ही साथ समष्टि भी उस युग-चेतना का अभिन्न अंग है जिसे दिनकर की रचनाओं ने अपने सुकोमल स्पर्श से अमरता प्रदान की है। जिस प्रकार समुद्र के निर्माण में बूँद की अनिवार्य महत्ता होती है, उसी प्रकार समाज के लिए व्यक्ति की। कवि का मानना है कि समष्टि व्यष्टि का ही एक रूप है। समष्टि में यदि व्यष्टि की शक्ति एवं संभावनाएँ निहित हैं तो व्यष्टि में समष्टि की सीमाएँ भी-

"व्यष्टि- समष्टि विवाद व्यर्थ है, झगड़ा मनमाना है,
है समष्टि ही हार, व्यष्टि तो मोती का दाना है।
बूँदे जब गिरती समुद्र में, व्यथा कौन पाती है?
सागर में मिलकर अगाध सागर ही बन जाती है।"[3]

दिनकर व्यष्टि एवं समष्टि में कोई अंतर नहीं मानते। उनके अधिकांश रचनाओं में युग चेतना की यह अवधारणा देखने को मिलती है। इस संबंध में सावित्री सिन्हा ने कहा है, "वैयक्तिक गुणों के आधार पर व्यक्ति का मूल्यांकन जब तक समाज में स्वीकार्य नहीं होगा तब तक व्यष्टि गुण से पुष्ट समष्टि का निर्माण संभव नहीं है। सामाजिक दृष्टि का निर्माण व्यक्ति की इकाई को पृथक रखकर करना असंभव है। व्यक्ति अपने आपको नियत के ऊपर छोड़कर निरीह बनकर जीवित भले ही रह सके, किंतु किसी आदर्श की स्थापना नहीं कर सकता।"[4] समाज से ही व्यक्ति की पहचान होती है और व्यक्तियों से ही समाज का निर्माण होता है।

दिनकर सदैव अपने परिवेश से अपने युग की परिस्थितियों से सचेत रहे। वे समय की मॉग से भली-भॉति परिचित थे। वे तत्कालीन समय के वैतालिक बनकर लिखते रहे। जिससे संवेदना की अधिकता के कारण उनकी रचनाओं में आक्रोश का स्वर दिखाई देता है। जो तत्कालीन समय के अन्याय तथा अत्याचार के लिए चुनौती स्वरूप था। कवि का आक्रोश तथा देश- प्रेम दोनों ही सभी नेताओं को जैसे चुनौती देता हुआ- सा नजर आता है। इसीलिए कवि ललकार उठता है-

"समर शेष है, जनगंगा को खुलकर लहराने दो।
शिखरों को डूबने और मुकुटों को बह जाने दो।
पथरीली, ऊँची जमीन है? तो उसको तोड़ेंगे,
समतल पीटे बिना समर की भूमि नहीं छोड़ेंगे।
समर शेष है, चलो ज्योतियों के बरसाते तीर,
खंड-खंड हो गिरे, विषमता की काली जंजीर।"[5]

कवि दिनकर ने युग की पुकार को अपने काल के अनुरूप, कालयुक्त विचारों के अनुरूप लोगों के समक्ष यथार्थ रूप में प्रस्तुत किया है। उनका अधिकांश साहित्य काल के साथ जुड़ा हुआ है। चाहे वे ब्रिटिश साम्राज्य की विरुद्ध लिखी गई कविताएँ हों या स्वतंत्रता के पश्चात् दम्भी, विलासी नेताओं को दी गई चेतावनियाँ हों। दिनकर की रचनाएँ सामाजिक परिवेश को अंकित करते हुए समाज के, देश के और राष्ट्र के विविध पहलुओं को दिखाता है। सामाजिक-आर्थिक शोषण के विरुद्ध समर शेष है -

"वह संसार जहाँ पर पहुँची अब तक नहीं किरण है,
जहाँ क्षितिज है शून्य, अभी तक अंबर तिमिर- चरण है।
देख जहाँ का दृश्य आज भी अंतस्तल हिलता है.,
मॉ को लज्जा वसन और शिशु को न क्षीर मिलता है।।
पूछ रहा है जहाँ चकित हो जन-जन देख अकाज,
सात वर्ष हो गये, राह में अटका कहाँ स्वराज।।"[6]

हम देखते हैं कि दिनकर की लेखनी से व्यक्त ये चिंताएँ वर्तमान में भी ज्यों की त्यों बनी हुई हैं। देश की सामाजिक परिस्थितियों में भले ही थोड़ा बदलाव हुआ हो, परंतु आर्थिक विषमता आज भी बनी हुई है। अमीरी-गरीबी का फासला बढ़ता ही गया है। रचनाकार की उपज नितांत निजी न होकर युगीन संदर्भों की उपज होती है, जिसके केंद्र में मनुष्य की संपूर्ण परिस्थितियाँ और यथार्थ जटिलताएँ होती हैं। दिनकर का विश्वास मुट्ठीभर साधन संपन्न लोगों की दया और त्याग वृत्ति की अपेक्षा साधनहीन, बुभिक्षित लाखों देशवासियों के साथ पुरुषार्थ और स्वाभिमान पर अधिक है। वे नेताओं के झूठे वादों से जनता को सतर्क करते हैं-

"नेता का अब नाम नहीं लें,
अंधेपन से काम नहीं लें,
हवा देश की बदल गयी है,

चाँद और सूरज, ये भी अब
छिपकर नोट जमा करते हैं।
और जनता नहीं अभागे,
मंदिर का देवता चोर- बाजारी में पकड़ा जाता है ?'[7]

दिनकर जी भारतीय संस्कृति के व्याख्याता भी रहे हैं। उनकी रचनाओं में प्राचीन भारतीय सभ्यता और संस्कृति की सुंदर झलक दिखाई पड़ती है। उनका मानना है कि भारतीय संस्कृति सामासिक संस्कृति है। वे भारतीय संस्कृति के संबंध में कहते हैं, "दुनिया में आज ऐसे भी समृद्ध देश हैं जहाँ समाज में सम्मान पाने के लिए कवियों को भी मोटर और बैंक बैलेंस की आवश्यकता होती है। भारत की परंपरा ठीक इसके विपरीत है। अतीत में राजाओं से बहुत अधिक आदर महर्षियों का होता था जो सभ्यता के कोलाहल से दूर वनों में रहते थे।"[8] दिनकर की रचनाओं में व्यंजित युग चेतना हमारी सांस्कृतिक राष्ट्रीयता की बहुमूल्य निधि है। वे भारतीय संस्कृति के संरक्षक एवं संवाहक हैं।

दिनकर की सांस्कृतिक चेतना उनकी रचना 'रश्मिरथी' में जातीय चरित्रों के माध्यम से रेखांकित किया गया है। रश्मिरथी में दलित और उपेक्षितों के उद्धार की बात की गयी है। इस संबंध में डॉ. (श्रीमती) सावित्री सिन्हा का कहना है, "रश्मिरथी में कर्ण के व्यक्तित्व की प्रतिष्ठा द्वारा इसी मानवीय मूल्य की प्रतिष्ठा हुई है। मैथिलीशरण गुप्त का युग नारी-उद्धार का युग था, जिसकी प्रेरणा से यशोधरा और उर्मिला जैसे अमर और शक्तिशाली पात्रों का अस्तित्व संभव हुआ, उन्होंने नारी को शोषित और दलित वर्ग की श्रेणी से निकालकर उसे स्वतंत्र सत्ता दी। नारी शोषण का युग समाप्त हो गया, ऐसा नहीं कहा जा सकता, परंतु उसे शोषित वर्ग में परिगणित करने की स्थिति अब नहीं रह गयी। कर्ण के सिर पर दुहरा कलंक है, वह एक ओर अविवाहिता का पुत्र है, दूसरी ओर सूत- पुत्र।"[9] अतः समाज जिसे स्वीकार नहीं कर सकता ऐसा स्वरूप कर्ण का है। दिनकर ने इस कलंक को मिटाने के लिए कर्ण को पौरुष के प्रतीक के रूप में प्रतिष्ठित किया-

"पूछो मेरी जाति, शक्ति हो तो मेरे भुजबल से,
रवि समान दीपित ललाट से और कवच- कुंडल से।
पढ़ो उसे जो झलक रहा है मुझमें तेज-प्रकाश,
मेरे रोम-रोम में अंकित है मेरा इतिहास।"[10]

सत्यम्, शिवम्, सुंदरम् के समन्वित वैशिष्ट्य से युक्त भारतीय संस्कृति को अभिव्यक्ति प्रदान करने वाले दिनकर शांति के अग्रदूत भी रहे हैं। वे लोगों में आपसी वैमनस्य, भेद-भाव, घृणा का परिष्कार करना चाहते थे। ये मनुष्य की मूल प्रवृत्तियाँ हैं, परंतु जब इन्हें सही दिशा- निर्देश मिले तो इन भावनाओं में परिवर्तन किया जा सकता है। बर्ट्रेंड रसेल के मतों का उद्धरण देते हुए दिनकर जी ने लिखा है कि, "मनुष्य की मूल प्रवृत्तियाँ तीन प्रकार की होती हैं। पहली प्रवृत्ति तो वह है जो स्थूल और अनगढ़ रूपों में सभी जीवधारियों में देखी जाती है। यह प्रवृत्ति जीवधारी प्रवृत्ति है जो हममें क्षुधा, तृष्णा और यौनेच्छा जाग्रत करती है तथा जिसकी प्रेरणा से हम क्रोध, प्रेम, घृणा और उत्साह का अनुभव करते हैं। आत्मरक्षा की प्रवृत्ति इसी जीवधारी प्रवृत्ति के साथ है और वह मनुष्य के साथ पशु में भी पाई जाती है। भेद केवल सूक्ष्मता और स्थूलता का है। भैंस नहीं चाहती कि उसके खूँटें पर कोई दूसरी भैंस आये। घृणा का यही भाव परिष्कृत होकर मानव समाज में राष्ट्रीयता कहलाता है।"[11] भारतीय संस्कृति के सत्यम्, शिवम्, सुंदरम् के समन्वित रूप से ही विज्ञान, धर्म एवं कला को प्रेरणा एवं संजीवनी शक्ति मिलती है। क्योंकि दिनकर का मानना है कि मानव जाति का कल्याण ही हमारा श्रेय है-

"श्रेय वह विज्ञान का वरदान,
हो सुलभ सबको सहज जिसका रुचिर अवदान।
श्रेय वह नर- बुद्धि का शिव- रूप आविष्कार,
ढो सके जिसके प्रकृति सबके सुखों का भार।
मनुज के श्रम के अव्यय की प्रथा रुक जाय,
सुख- समृद्धि- विधान में नर के प्रकृति झुक जाय।"[12]

रचनाकार अपने समय का याख्याता होता है। वह युग-दृष्टा और युग स्रष्टा भी होता है। रचनाकार की रचना का सीधा संबंध मानव-जीवन और सामाजिक यथार्थ से है। तत्कालीन परिस्थितियाँ उसे सर्वाधिक प्रभावित करती हैं। दिनकर की सामाजिक चेतना, सांस्कृतिक चेतना, दार्शनिक चेतना और राजनीतिक अभिव्यक्ति इसके उदाहरण हैं। उनका ऐसा मानना था कि भारतीयता की रक्षा उसके सम्मान और संस्कृति की रक्षा एक हाथ में परशु और दूसरे हाथ में वेद लेकर ही संभव है। दिनकर राष्ट्रीयता के अग्रदूत, मानवता के संरक्षक एवं प्राणों के उत्स एवं पौरुष के समर्थक बनकर उपस्थित हुए हैं। उनकी रचनाएँ युग की मर्म-वाणी है जो असंख्य जनता को

प्रेरित करने वाली है। वास्तव में दिनकर जन-कवि के रूप में सदैव साहित्य-जगत में दिनकर बनकर उदित रहेंगे।

संदर्भ

1. दिनकर काव्य में युगचेतना, डॉक्टर पुष्पा ठक्कर, अरविंद प्रकाशन बंबई, प्रथम संस्करण 1986, पृष्ठ संख्या- 138
2. वही, पृष्ठ संख्या- 139
3. नील कुसुम, रामधारी सिंह दिनकर, द्वितीय संस्करण 1956, पृष्ठ संख्या- 119
4. दिनकर, संपादक सावित्री सिन्हा, प्रथम संस्करण 1967, पृष्ठ संख्या- 178
5. परशुराम की प्रतीक्षा, 'समर शेष है' कविता, रामधारी सिंह दिनकर, पृष्ठ संख्या-77
6. वही
7. चक्रवाल, 'नेता' कविता रामधारी सिंह दिनकर पृष्ठ संख्या-313-314
8. दिनकर काव्य में युगचेतना, डॉक्टर पुष्पा ठक्कर, अरविंद प्रकाशन बंबई, प्रथम संस्करण 1986, पृष्ठ संख्या- 149
9. युग- चारण दिनकर, सावित्री सिन्हा, प्रथम संस्करण 1963, पृष्ठ संख्या-146-47
10. रश्मिरथी, रामधारी सिंह दिनकर, पृष्ठ संख्या - 5
11. चक्रवाल, रामधारी सिंह दिनकर, भूमिका, पृष्ठ संख्या- 61
12. कुरुक्षेत्र, रामधारी सिंह दिनकर, बीसवॉं संस्करण 1961, पृष्ठ संख्या- 80

असिस्टेंट प्रोफेसर (हिंदी)
हिंदू कन्या महाविद्यालय, सीतापुर, उत्तर प्रदेश 261001

दिनकर की दृष्टि में अतीत और समसामयिक इतिहास

— डॉ. मनीष श्रीमाली

भारत के साहित्यिक गगन के एक देदीप्यमान नक्षत्र रामधारी सिंह दिनकर है। दिनकर उन कवियों एवं लेखकों में से एक है जिन्होंने स्वतंत्रता संग्राम की पृश्ठभूमि में अपने लेखन से राष्ट्रीय चेतना जागृत करने का कार्य किया। अतः राष्ट्र जागरण के कवि के रूप में वे याद किए जाते है। जनजागरण हेतु उन्होंने इतिहास का सहारा लिया तभी तो उनकी कविता में कुरूक्षेत्र भी है तो परशुराम की प्रतिक्षा भी दिखाई पड़ती है। दिनकर के गद्य और पद्य दोनों में ही इतिहास की झलक दिखती है। अतः इतिहास को आधार बनाकर लिखने वाले दिनकर की इतिहास दृष्टि और समसामयिक विषयों पर उनका लेखन उनके निष्पक्ष भाव की वहज से आज भी बेहद प्रासंगिक है। यहीं वजह है कि उनका लेखन साहित्य के साथ इतिहासकारों के लिए भी आधार सामग्री का कार्य करता है। दिनकर जी का मानना था कि राष्ट्रीयता की प्रेरणा में साहित्य का अवदान महत्वपूर्ण होता है। साहित्य के माध्यम से जब कवियों एवं साहित्यकारों द्वारा अतीत का गौरवगान होता है तब युवा धमनियों में राष्ट्रवाद का रक्त उबाल मारने लगता है। चारों ओर राष्ट्रवाद का वातावरण बन जाता है। 19वीं एवं 20वीं सदी में भी कुछ ऐसा ही वातावरण देश में बन चुका था। दिनकर ने भी भारत के पुरातन वैभव को अपने शब्दों से आकार दिया और राष्ट्र जागरण में आहूति दी। उनकी इन प्रमुख रचनाओं में कलिंग विजय, वारदोलि वंदना, मगध महिमा, बागी प्रमुख है।

दिनकर की इतिहास दृष्टि को देखने को दो आयाम हो सकते है एक तो इतिहास के विविध विषयों पर उनके द्वारा लिखा गया गद्य और पद्य तो दूसरा एक सजग साहित्यकार के समान उन समकालीन ऐतिहासिक घटनाओं पर अपनी लेखनी

चलाकर समाज के लिए इतिहास का उनके द्वारा किया गया सृजन। जहां प्रथम आयाम साहित्यकार द्वारा इतिहास को देखने के दृष्टिकोण को प्रकट करता है तो दूसरा एक साहित्यकार तत्कालीन घटनाओं का चित्रण भविश्य की पीढ़ियों के लिए किस प्रकार कर रहा था, वह अहम था। राग, द्वेष से परे रहकर वस्तुनिष्ठ भाव से लिखा गया समकालीन वर्णन ही भावी इतिहास लेखन के लिए मूल आधार सामग्री बनता है। यहीं भाव दिनकर के लेखों में दिखाई पड़ते है।

दिनकर की राष्ट्र चेतना एवं इतिहास के प्रति समर्पण के भाव उनकी प्रारंभिक कृतियों से ही प्रकट होने लगते है। उनकी प्रारंभिक कृतियों में 'वारदोलि-वन्दना' प्रमुख है। यह 1928 ई. में सरदार पटेल द्वारा बंबई के गर्वनर विल्सन के विरूद्ध किए गए सफल किसान आंदोलन को समर्पित कविता है। ''वीर वारदोली वन्दे। अखिल-सृष्टि, शिर-मुकुट, लोक तारिणी खद्दरधारिणी वन्दे।........कठिन-कर्म-सारिणी तूं सत्वर विल्सन-मद-मारिणी वन्दे।'' इसी प्रकार जब वर्ष 1922 और वर्ष 1931 ई. में लगातार दो अखिल भारतीय अहिंसक आंदोलन असफलता की भेंट चढ़ गये तब कविवर का अहिंसा से मन उठने लगा। कवि हृदय छटपटा रहा था वहीं मन भी व्याकुल था। नौजवान युवकों का रक्त उबाल खा रहा था विश्व में महायुद्ध छिड़ा हुआ था। गांधी जी किसी प्रकार का आंदोलन छेड़ने को तैयार नहीं थे। इस स्थिति का चित्रण संभवतः कोई कवि ही अमूर्त भावनाओं को शब्दों का आकार देकर हमारे समक्ष उपस्थित कर सकता है। यह हमें दिखता है दिनकर की कृति 'कुरूक्षेत्र' में। जहां वे हिंसा और अहिंसा के प्रश्नों पर अपने मन्तव्य व्यक्त करते है। दिनकर लिखते है कि अहिंसा अगर धर्म है, तो हिंसा को आपद्धर्म मानना ही पड़ेगा। इससे आगे वे लिखते है कि जिसका आपद्धर्म नष्ट हो गया, उसका परम धर्म भी नहीं बचेगा। दिनकर के ये कथन समकालीन मानसिकता को उजागर करते है।

साहित्य और इतिहास का संबंध

साहित्यकार के इतिहासकार होने पर बहुधा आपत्ति की जाती है। किंतु हमें साहित्य और इतिहास के अन्योन्यय सम्बन्धों को समझना होगा। साहित्य को इतिहास की तीसरी आंख कहा गया है। साहित्य इतिहास को आमजन तक पहुंचाने वाली सरिता रही है तो कभी इतिहास को विकृत करने का आरोप भी मढ़ दिया जाता है। इतिहास और साहित्य के इन्हीं सम्बन्धों को नये रूप में परिभाषित दिनकर जी ने किया है। दिनकर लिखते है कि, ''अनुसन्धानी विद्वान सत्य को तर्क से

पकड़ता है और समझता है सत्य, सचमुच, उसकी गिरफ्त में है। मगर, इतिहास का सत्य क्या है? घटनाएँ मरने के साथ फोसिल बनने लगती हैं, पत्थर बनने लगती हैं, दन्तकथा और पुराण बनने लगती हैं। बीती घटनाओं पर इतिहास अपनी झिलमिली डाल देता है, जिससे वे साफ-साफ दिखाई न पड़ें, जिससे बुद्धि की उँगली उन्हें छूने से दूर रहे। यह झिलमिली बुद्धि को कुंठित और कल्पना को तीव्र बनाती है, उत्सुकता में प्रेरणा भरती और स्वप्नों की गाँठ खोलती है। घटनाओं के स्थूल रूप को कोई भी देख सकता है, लेकिन उनका अर्थ वही पकड़ता है, जिसकी कल्पना सजीव हो। इसीलिए, इतिहासकार का सत्य नए अनुसन्धानों से खंडित हो जाता है, लेकिन, कल्पना से प्रस्तुत चित्र कभी भी खंडित नहीं होते।'' यह साहित्यकार की इतिहास दृष्टि है जो साहित्य के माध्यम से इतिहास के अपूर्ण चित्र को कल्पनाओं का रंग भर के उसे साकार रूप प्रदान करने की कोशिश करता है। भगतसिंह ने भी अपने मोनोग्राफ में लिखा था कि जहां पर ठोस साक्ष्य का अभाव होता है वहां पर दर्शन प्रवेश कर उस रिक्त स्थान को पूर्ण करता है। यद्यपि वैज्ञानिक इतिहास में कल्पना और दर्शन का कोई स्थान नहीं है फिर भी साक्ष्यों के अभाव में ऐतिहासिक घटनाक्रम को पूर्ण बनाने के लिए किंचित कम या ज्यादा कल्पना लोक का सहारा ले लिया जाता है या संभावनाओं का वास्ता देकर उसे पाठकों के समक्ष प्रस्तुत किया जाता है।

निश्चय ही दिनकर जी एक साहित्यकार थे किंतु इतिहास में भी उनका बड़ा दखल रहा, इसका प्रमुख उदाहरण उनकी रचना 'संस्कृति के चार अध्याय' है। यद्यपि इतिहासकारों में इस पुस्तक को लेकर मतभेद हैं कि क्या यह प्रामाणिक इतिहास के मापदंडों के अनुरूप लिखी गयीं है। यह चर्चा तब से अभी तक भले ही चली आ रही है किंतु पुस्तक के उद्देश्य और इतिहास ग्रंथ के संदर्भ में संपूर्ण चर्चाओं पर विराम स्वयं दिनकर लगा देते है। सर्वप्रथम जब बात एक साहित्यकार के द्वारा इतिहास में दखल देने पर आती है तो दिनकर खुलकर इस संदर्भ में अपने विचार व्यक्त करते हुए अपना मत प्रकट करते है कि इतिहास को नीरस बनने से बचाने के लिए साहित्यकार का प्रवेश भी आवश्यक है। इतिहास मृत अतीत का निर्जीव वर्णन नहीं हो सकता। वे स्वयं को शौकिया इतिहासकार मानते है। उनका कहना था कि शौकिया लेखक बहुधा नये विचारों को बेहद आसानी से विषय में प्रवेश दे देता है, जो कि विषय में ताजगी का संचार कर देते है। ''थरथराहट, पुलक और प्रकम्प, ये

गुण शौकिया की रचना में होते है। पेशेवर लेखक अपने पेशे के चक्कर में इस प्रकार महो रहते हैं कि क्रांतिकारी विचारों को वे खुलकर खेलने नहीं देते।'' कहीं पर भी दिनकर इस बात का दावा नहीं करते है कि वे इतिहासकार है तथा वे किसी मौलिक खोजपूर्ण ग्रंथ की रचना कर रहें है। जहां तक बात पुस्तक के लेखन के उद्देश्य की तब वह स्वीकार करते है कि वे इतिहास की सेवा करना चाहते है इसलिए इस ग्रंथ की रचना की है। स्वतंत्रता के बाद देश की जनता के समक्ष उसकी संस्कृति से परिचित करवाना ही उनका मुख्य उद्देश्य था। संभवतः यहीं दिनकर के ऐतिहासिक निबंध एवं रचना को महत्वपूर्ण बना देते है।

दिनकर की दृष्टि में कवि का कर्तव्य

दिनकर जी साहित्यकार होते हुए भी वे कल्पनालोक में उड़ान भर एक स्वप्नलोक की रचना कर उसमें रंगभरने के पक्षकार नहीं थे। वे रचना को न तो यथार्थ के धरातल से न तो बहुत दूर ले जाना चाहते थे तथा नहीं वे साहित्यकार को राजनीति की कठपुतली बनाने के समर्थक थे। दिनकर की कविता में समसामयिक दुनिया की झलक नजर आती है। वे उन चुनिंदा कवियों में से एक थे जो धरती की हलचल से दूर स्वप्न की मायापुरी के बिहार करने के असहज महसूस करते थे। उनकी कविताओं में अंग्रेजी राज का विरोध, समता का प्रचार और क्रान्ति की प्रेरणा दृष्टिगत होती है। उनके इतिहास के प्रति झुकाव और कवि के रूप में वर्तमान युग की आवश्यकता को देखते हुए उन्होंने जिस प्रकार की रचना लिखी उन्हें समकालीन लोग चारण, वैतालिक, युग का ढिंढोरिया और जागरण का दूत जैसे विरूद से भी पुकारने लगे थे। दिनकर जी इस सहर्श इस बात का स्वीकार कर रहें थे। उन्होंने तो हुंकार के आमुख में तो सरेआम इसे स्वीकारोक्ति भी दी। वे लिखते है कि -

अमृत-गीत तुम रचो कलानिधि, बुनो कल्पना की जाली।
तिमिर-ज्योति की समरभूमि का मैं चारण, मैं वैताली।

इस संदर्भ में दिनकार का मानना था कि एक कवि अपने युग की चेतना को अपने काव्य में यथोचित स्थान देना चाहिए तभी आने वाली पीढ़ी साहित्य से इतिहास की समझ को ग्रहण कर पायेगी। दिनकर जी रसवन्ती की भूमिका में लिखते है कि, ''मनुष्य के नाते कवि का भी यह धर्म है कि वह मिट्टी के प्रति अपना दायित्व निभाये, युद्ध के वातावरण में अपना सीना खोले और प्रहारों के आदान-प्रदान में भाग ले; लेकिन कवि के नाते उसका यह भी कर्तव्य है कि वह अपनी कोमल

भावनाओं की, कैद में, हत्या नहीं करे- वे भावनाएँ जो युद्ध के वायुमण्डल में, गोलियों की वर्षा के बीच सिपाही के दिल में माता की सुधि, प्रिया और बच्चों की स्मृति तथा धुएँ से दूर दूब और फूलों की याद बनकर खिलती हैं। हाँ, हम अधिक से अधिक इतना कह सकते है कि वह उस प्रकार लिखे जिससे यह मालूम हो सके कि जब वह कविता कर रहा था तब उसके कक्ष के बाहर बम गरज रहे थे, बड़े-बड़े युग-प्रवर्त्तक आन्दोलन चल रहे थे तथा वह जिनके लिये लिख रहा था वे समर पथ पर आरूढ़ थे।''

दिनकर जी के साहित्य का अनूठापन इसमें भी है कि उन्होंने इतिहास की कई घटनाओं को अपनी कविताओं में स्थान देकर उन्हें आमजन के जीवंत इतिहास का अंग बना दिया। बिहार में देवघर में महात्मा गांधी पर हुए हमले की निंदा करते हुए दिनकर जी ने उसे 'बोधिसत्व' कविता में स्थान देते हुए लिखा कि, ''जागो, गाँधी पर किये गये नरपशु-पतितों के वारों से, जागो, मैत्री-निर्घोश! आज व्यापक युगधर्म-पुकारों से।' इसी प्रकार दिनकर जी ने बागी नामक रचना में भगतसिंह के साथी और 61 दिनों की भूख हड़ताल के बाद देश पर अपने प्राण न्यौछावर करने वाले यतीन्द्र नाथ को समर्पित की।

रणभेरी बज चुकी, कौन बलि के हित ललचाते हैं?
बाट जोहती माँ देखें, कितने 'यतीन' आते हैं?

महाकाव्य और इतिहास

दिनकर स्वांत सुखाय तथा सौंदर्य की आराधना करने वाले ही कवि नहीं थे। उनकी रचनाओं में तत्कालीन युग की बैचेनी को महसूस किया जा सकता है। राष्ट्र की आत्मा को प्रभावित करने वाले महापुरूषों पर मुक्त हस्त से अपनी कलम चलाकर उनके चरित्र चित्रण का भी प्रयास किया ताकि भावी पीढ़ियां उनके कार्यों एवं विचारों का मूल्यांकन कर सकें। उनकी रचनाएं साहित्यकारों एवं कवि हृदय कलाकारों की आत्मा का तृप्त तो करती ही थी, साथ ही वह भारत के अतीत के गौरव से भी परिचित करवाती थी। इन रचनाओं को पढ़ युवा वर्ग राष्ट्रीय आंदोलन में भाग लेने के लिए उद्वेलित हो उठता। एक साहित्य की इतिहास के ग्रंथ के रूप में आने वाली पीढ़ियों के लिए महाकाव्य का क्या महत्व हो सकता? है शायद इस बात को दिनकर जी से बढ़कर कोई और ही बता सकें। दिनकर की रचनाओं में यदाकदा रविंद्र बाबू की चर्चा मिल ही जाती है। दिनकर इस बात पर दुःख प्रकट करते हुए

अपना दर्द जाहिर करते हुए कहते है कि किस प्रकार रविंद्र बाबू ने कोई महाकाव्य नहीं लिखा। उनकी दृष्टि में महाकाव्य ''महाकाव्य मनुष्यता की प्रगति के मार्ग में मील के पत्थरों के समान होते है; वे विश्लेषित करते हैं कि मनुष्य किस युग में कहां तक प्रगति कर सका है।'' महाकाव्यों में अपने समय की महान समस्याओं तथा उनके निदान पर कवि ने खुल कर चर्चा कि है। ये महाकाव्य समकालीन घटनाओं एवं चरित्रों की जानकारी का एक प्रमुख स्रोत बन जाता है, जो भावी पीढ़ियों के लिए आधार सामग्री का कार्य करता है। दिनकर रवीन्द्रबाबू द्वारा महाकाव्य की रचना न किये जाने पर अफसोस जाहिर करते हुए कहते है कि अगर उन्होंने महाकाव्य लिखा होता तो हम अपने समय की अनंत समस्याओं के मध्य समीचीन सामंजस्य बिठा पाते। यह महाकाव्य एक ऐसा स्रोत होता जो सदियों तक लोगों की प्यास बुझाने में सक्षम होता।

रवीन्द्र नाथ टैगोर द्वारा महाकाव्य की रचना दिनकर की यह कल्पना की एक उड़ान लगे किंतु उसके महत्व का विश्लेषण बेहद महत्वपूर्ण है। यह भले ही साहित्यकारों एवं इतिहासकारों के मध्य एक विवाद एक नया विषय हो सकता है कि क्या साहित्य वैज्ञानिक इतिहास लेखन में सहायक हो सकता है, किंतु दिनकर की इस बात से कतई मतभेद नहीं होगा कि महाकाव्य उस युग की समस्याओं का चित्रण करने एवं रूपरेखा प्रस्तुत करने में एक अहम् स्रोत की भूमिका निभाता है। आगे दिनकर स्वयं ही इस यक्ष प्रश्न का उत्तर देते दिखते है कि उस दौर में किसी महाकाव्य की रचना क्यों न हो सकी। दिनकर लिखते है कि पराधीनता ही हमारे समक्ष सबसे बड़ी समस्या थी जिसके समक्ष अन्य सभी गौण थी। सभी को यहीं लगता था कि औपनिवेशिक दासता ही इन समस्त दुःखों के मूल में है जब दासता की यह दीवार ध्वस्त होगी तो उसके साथ हमारी अन्य समस्याएं भी जमींदोज हो जायेगी।

दिनकर की रचनाओं को पढ़ने के बाद यह कहा जा सकता है कि अतीत के प्रति लिखने वाला ही इतिहासकार नहीं होता बल्कि साहित्यकार भी इतिहास का सृजन करता है। जीवन में कई ऐसे दुर्लभ क्षण आते है जब आप नवीन सृजन होते इतिहास को आंखों से देखते है। यह तब और महत्वपूर्ण हो जाता है जब आप उन ऐतिहासिक पलों को आने वाली पीढ़ियों के लिए एक जीवंत दस्तावेज के रूप में छोड़ जाये। संभवतः जब एक इतिहास की समझ रखने वाला साहित्यकार ऐसा करता है तो वह उसे और अधिक प्रभावी बना देता है। साहित्यकार का सरस, सजीव वर्णन

उस कालखंड को जीवित कर देता है। दिनकर ने भी इतिहास के साथ समसामयिक घटनाओं को अपनी रचना में स्थान देकर भावी इतिहासकारों के लिए सरस शब्दों में तथ्यों को परोसा जो आज भी इतिहास को देखने की वैकल्पिक दृष्टि प्रदान करता है।

सहायक आचार्य
इतिहास विभाग
मोहनलाल सुखाड़िया विश्वविद्यालय, उदयपुर

रामधारी सिंह 'दिनकर' के साहित्य में अभिव्यक्त भारतीय संस्कृति

— डॉ. प्रियंका कुमारी

भारतीय संस्कृति एक प्राचीन और समृद्ध परंपरा है, जो भारतीय उपमहाद्वीप में हजारों वर्षों से विकसित हुई है। यह न केवल धार्मिक और दार्शनिक दृष्टिकोण से, बल्कि सामाजिक, सांस्कृतिक और कला के विभिन्न पहलुओं से भी प्रभावित है। भारतीय संस्कृति का प्रमुख आधार धर्म, मूल्य, परंपराएँ, भाषा, साहित्य, कला और संस्कृति हैं। हिंदी साहित्य के प्रसिद्ध साहित्यकार राष्ट्रकवि रामधारी सिंह 'दिनकर' का साहित्य भारतीय संस्कृति का सजीव दर्पण है। उनके गद्य और पद्य में भारतीय संस्कृति के विभिन्न पहलुओं का सजीव चित्रण मिलता है। दिनकर ने अपने साहित्य में परंपरा और आधुनिकता के संतुलन के साथ-साथ भारतीय जीवन-मूल्यों, राष्ट्रीयता, धर्म, समाज और सांस्कृतिक चेतना को गहराई से अभिव्यक्त किया है। उनके साहित्य ने भारतीय संस्कृति, राष्ट्रीयता और समाज के विभिन्न पहलुओं को व्यक्त किया। पन्त, प्रसाद और निराला आदि साहित्य के अतिरिक्त रामधारी सिंह 'दिनकर' की प्रमुख साहित्यिक रचनाओं रश्मिरथी, उर्वशी, कुरुक्षेत्र, संस्कृति के चार अध्याय, विरोधी, भारत में बगावत, सामाजिक समरसता, वर्तमान संकट और उसका समाधान, साहित्य और समाज, रेणुका, हुंकार, रसवन्ती, भारत की सांस्कृतिक कहानी, बारदोली-विजय संदेश, प्रणभंग, अर्द्धनारीश्वर, मिट्टी की ओर, रेती के फूल, हमारी सांस्कृतिक एकता, राष्ट्रभाषा और राष्ट्रीय एकता, ने भारतीय समाज, संस्कृति. राष्ट्रवाद, दार्शनिकता, सामाजिक संदेश के महत्व को गहरे तरीके से चित्रित किया। उनकी रचनाएँ आज भी प्रासंगिक हैं और समाज को प्रेरित करने का काम करती हैं।

रश्मिरथी रामधारी सिंह 'दिनकर' द्वारा रचित एक महाकाव्य है, जो महाभारत के

कर्ण के जीवन पर आधारित है। दिनकर ने इस काव्य के माध्यम से भारतीय संस्कृति को न केवल ऐतिहासिक और धार्मिक दृष्टिकोण से, बल्कि जीवन के आदर्शों, नैतिकता और वीरता के माध्यम से भी प्रस्तुत किया है। 'संस्कृति के चार अध्याय' में भारत वर्ष के संपूर्ण इतिहास को चार खंडों में बांटकर लिखने का अद्वितीय प्रयास दिनकर ने किया है। इस पुस्तक की प्रस्तावना जवाहर लाल नेहरू द्वारा लिखी गयी है। यह भारतीय संस्कृति का सर्वेक्षण है जिसके लिए 'दिनकर' जी को 1959 ई. में साहित्य अकादमी पुरस्कार से सम्मानित किया गया था। इसमें कुल 39 प्रकरण है। इसमें भारतीय संस्कृति और सभ्यता के चार महत्वपूर्ण पहलुओं पर चर्चा की गई है। यह पुस्तक भारतीय संस्कृति के विविध पक्षों को न केवल साहित्यिक दृष्टिकोण से, बल्कि सामाजिक, ऐतिहासिक, और धार्मिक संदर्भों में भी प्रस्तुत करती है। इस पुस्तक के माध्यम से 'दिनकर' ने भारतीय संस्कृति की गहरी समझ को प्रस्तुत किया है और इसे चार अध्यायों में विभाजित किया है। हर अध्याय भारतीय संस्कृति के अलग-अलग पहलुओं को उजागर करता है। पहले अध्याय में भारतीय संस्कृति के ऐतिहासिक संदर्भ पर विचार किया गया है। दिनकर जी ने भारत की प्राचीन संस्कृति, इसके उत्थान और पतन, और फिर इसके पुनर्निर्माण की आवश्यकता पर बल दिया। भारतीय इतिहास में महान शासकों, धार्मिक विचारधाराओं और सांस्कृतिक योगदानों का समावेश किया गया है।

दूसरे अध्याय में जीवन के विभिन्न पहलुओं और संस्कृति के आपसी संबंध को समझाया है। दिनकर का मानना था कि संस्कृति केवल कला या धार्मिक परंपराओं तक सीमित नहीं है, बल्कि यह जीवन के हर क्षेत्र में व्याप्त है। समाज में आदर्श जीवन जीने के लिए संस्कृति की महत्ता पर जोर दिया गया है। तीसरे अध्याय में भारतीय संस्कृति और राष्ट्रवाद के बीच संबंध को स्पष्ट किया गया है। दिनकर ने बताया कि भारतीय संस्कृति न केवल धार्मिक और सामाजिक दृष्टिकोण से, बल्कि राष्ट्रीय एकता और स्वतंत्रता संग्राम के संदर्भ में भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। राष्ट्रवाद की भावना को भारतीय संस्कृति में समाहित किया गया है और यह समाज में एकता और समृद्धि की दिशा में काम करता है। चौथे अध्याय में भारतीय संस्कृति की प्राचीनता और आधुनिकता के बीच संतुलन पर चर्चा की गई है। दिनकर ने यह विचार प्रस्तुत किया कि भारतीय संस्कृति में निहित मूल्य आधुनिक समय में भी प्रासंगिक हैं और हमें इनको अपनाने और नवीनीकरण करने की आवश्यकता है। वे

मानते थे कि भारतीय संस्कृति को आधुनिक संदर्भों में ढालकर ही उसकी वास्तविक शक्ति को उजागर किया जा सकता है।

दिनकर ने भारतीय संस्कृति के गौरवमय अतीत को अपने काव्य में पुनर्जीवित किया। उनकी रचनाओं में भारत की स्वतंत्रता के लिए संघर्ष, देशभक्ति और राष्ट्रीय चेतना का उद्घोष मिलता है। परशुराम की प्रतीक्षा और हिमालय जैसी कविताएँ भारतीय संस्कृति की अपराजेय शक्ति को अभिव्यक्त करती हैं।

"भारत का यह रत्नजटित अंचल,
उर में अंकित श्रेय अक्षुण्ण,
मिट्टी की इस महिमा का मोल,
हम नहीं चुका सकते हैं।"

भारतीय संस्कृति को उसकी धार्मिक विविधता, सामाजिक आदर्शों, साहित्य, कला और जीवन के नैतिक मूल्यों के लिए जाना जाता है। यह न केवल एक भव्य परंपरा है, बल्कि यह जीवन को एक उद्देश्यपूर्ण, नैतिक और सामूहिक दृष्टिकोण से देखने का एक तरीका भी है। 'दिनकर' ने भारतीय संस्कृति की मूलभूत मान्यताओं और आदर्शों को बड़े ही प्रभावशाली तरीके से व्यक्त किया है। इसमें धर्म, कर्म, न्याय, वीरता, समानता, और नारी के सम्मान जैसे विषयों का अद्भुत चित्रण किया गया है। रश्मिरथी में भी वीरता और शौर्य की महिमा का उद्घाटन किया गया है। अर्जुन का चरित्र भारतीय वीरता का प्रतीक है। उनके संघर्ष, कर्तव्य पालन और अंतःस्फूर्ति से भारतीय संस्कृति में शौर्य, पराक्रम और आत्मविश्वास के महत्व को उजागर किया गया है। भारतीय संस्कृति में वीरता को विशेष स्थान दिया गया है, और रश्मिरथी में यह अत्यंत स्पष्ट रूप से देखा जाता है-

प्रेमयज्ञ अति कठिन कुण्ड में कौन वीर बलि देगा ?
तन, मन, धन, सर्वस्व होम कर अतुलनीय यश लेगा ?

भारतीय संस्कृति में कर्म को सर्वोपरि माना गया है। रश्मिरथी में श्री कृष्ण के द्वारा अर्जुन को दिए गए उपदेशों में जीवन के उद्देश्य, सही मार्गदर्शन और आत्मा के परिष्कार के सिद्धांतों का बारीकी से विवेचन किया गया है-

वृथा है पूछना किसने किया क्या,
जगत के धर्म को सम्बल दिया क्या।

भारतीय संस्कृति में समानता और न्याय का बहुत बड़ा स्थान है। रश्मिरथी में

कुरुक्षेत्र के युद्ध का संदर्भ देकर दिनकर ने यह बताया है कि जब समाज में अत्याचार और असमानता बढ़ती है, तो उस स्थिति से निपटने के लिए संघर्ष करना अनिवार्य हो जाता है-

पाँडुपुत्र अर्जुन में,
नैतिक असमंजस था।
अंतरात्मा का संघर्ष था।
युद्ध में कल्याण शून्य था।
जीवन-मूल्यों के प्रतिकूल था।

अर्जुन का युद्ध न केवल शारीरिक संघर्ष था, बल्कि यह एक मानसिक और नैतिक संघर्ष भी था, जिसमें भारतीय संस्कृति के आदर्शों की रक्षा के लिए लड़ाई लड़ी जा रही थी। भारतीय संस्कृति में समाज और परिवार के प्रति जिम्मेदारी और कर्तव्य का भी अत्यधिक महत्व है। अर्जुन का द्वंद्व, उनके भीतर के संघर्ष और उनके निर्णय यह दर्शाते हैं कि भारतीय संस्कृति में परिवार और समाज के प्रति सच्चे कर्तव्य को निभाने का कितना महत्व है। अर्जुन का कर्तव्य की ओर लौटना और समाज के लिए सर्वोत्तम निर्णय लेना, भारतीय संस्कृति की उस भावना को प्रकट करता है, जिसमें व्यक्ति को समाज के भले के लिए अपना कर्तव्य निभाने की प्रेरणा दी जाती है।

भारतीय संस्कृति में नारी को सम्मान और शक्ति का प्रतीक माना गया है। महाभारत के युद्ध में नारी के अपमान को लेकर विचार करते हुए दिनकर ने नारी के सम्मान को भारतीय संस्कृति का एक अहम हिस्सा बताया है। ‘दिनकर’ का काव्य “उर्वशी” भारतीय साहित्य की एक महान काव्य रचना है, जो भारतीय संस्कृति, धार्मिकता और जीवन के आदर्शों को प्रस्तुत करती है। इस काव्य में दिनकर ने भारतीय पुराणों और महाकाव्यों की कथाओं के माध्यम से संस्कृति के गहरे और नैतिक पहलुओं को उजागर किया है। “उर्वशी” काव्य विशेष रूप से प्रेम, आदर्श, नारी की भूमिका और जीवन के वास्तविक उद्देश्य के विषयों पर केंद्रित है। “उर्वशी” काव्य में नारी का आदर्श रूप, नारी की भूमिका पर गहरी चर्चा की गई है। उर्वशी, जो कि एक अप्सरा और नारी के आदर्श रूप के रूप में चित्रित की जाती है, भारतीय संस्कृति में नारी के सम्मान और शक्ति की प्रतीक है। उर्वशी के द्वारा शापित होने के बाद उसके जीवन की यात्रा, भारतीय संस्कृति में नारी के आदर्शों और उसकी गरिमा को उजागर करती है। उर्वशी में प्रेम को एक बोधात्मक विषय के रूप में स्वीकार

किया गया है और उसे भारतीय ढ़ंग के उन्नयन के सहारे कवि ने वासना से दर्शन तक पहुँचाया है-

पहले प्रेम स्पर्श होता है,
तदन्तर चिन्तन भी।
प्रणय प्रथम मिट्टी कठोर है,
तब वायव्य गगन भी।

दिनकर ने नारी को मात्र एक शारीरिक आकर्षण के रूप में नहीं, बल्कि एक शक्तिशाली और आदर्श व्यक्तित्व के रूप में प्रस्तुत किया है, जो भारतीय समाज के लिए प्रेरणा का स्रोत है। भारतीय संस्कृति कर्म की संस्कृति है। उर्वशी और पुरुरवा की कथा के माध्यम से दिनकर ने यह संदेश दिया है कि जीवन का उद्देश्य केवल भौतिक सुखों तक सीमित नहीं है, बल्कि आत्म-साक्षात्कार और आदर्श जीवन जीने में है। उर्वशी और पुरुरवा के बीच के रिश्ते में त्याग, प्रेम, और कर्तव्य की भावनाओं को प्राथमिकता दी गई है। यह भारतीय संस्कृति के अनुसार जीवन के वास्तविक लक्ष्य को समझने की प्रेरणा देता है। दिनकर के काव्य में उर्वशी और पुरुरवा के पात्रों के माध्यम से नैतिकता और आदर्शों को स्पष्ट रूप से चित्रित किया गया है। भारतीय संस्कृति में आदर्श जीवन जीने और नैतिक मूल्यों को प्राथमिकता देने पर बल दिया गया है। उर्वशी का शापित होना और पुरुरवा का उसे प्राप्त करने के लिए संघर्ष करना यह दर्शाता है कि भारतीय संस्कृति में जीवन के नैतिक आदर्शों और कर्तव्यों को सर्वोच्च महत्व दिया गया है।

दिनकर का साहित्य भारतीय राष्ट्रवाद से ओत-प्रोत है। उनके काव्य में भारतीय सभ्यता और संस्कृति की महिमा का वर्णन होता है। जैसे कि उनकी काव्यरचनाएँ "रश्मिरथी" और "उर्वशी" में भारतीय इतिहास और संस्कृति के गौरव का चित्रण किया गया है। दिनकर भारतीय संस्कृति को जीवन के उच्चतम आदर्शों से जोड़ते थे और मानते थे कि भारत की संस्कृति को पुनर्जीवित किया जाना चाहिए। दिनकर ने भारतीय संस्कृति के मानवीय मूल्यों जैसे, प्रेम, भाईचारे, और अहिंसा को प्रमुखता दी है। उनका मानना था कि भारतीय संस्कृति इन मूल्य और आदर्शों की रक्षा करती है और यही हमारे जीवन की दिशा है।

दिनकर ने भारत की बहुलतावादी संस्कृति और विविधता में एकता को अपनी रचनाओं में रेखांकित किया है। उन्होंने सभी धर्मों, भाषाओं और परंपराओं को एक

धागे में पिरोने का प्रयास किया है। उनकी दृष्टि में भारतीय संस्कृति सहिष्णुता और समन्वय का प्रतीक है।

"भारत को खोया नहीं, अपने भीतर पाया है,
वह शक्ति, वह सामर्थ्य, जो फिर से उभारा है।"

यहाँ दिनकर ने भारतीय संस्कृति की आत्मनिर्भरता और स्वाभिमान को महत्व दिया है। यह पंक्ति दर्शाती है कि भारत ने अपने अंदर की शक्ति और संस्कारों को फिर से जागृत किया है। इन पंक्तियों के माध्यम से दिनकर ने भारतीय संस्कृति, धर्म, वीरता और आत्मविश्वास को महत्वपूर्ण स्थान दिया है, जो उनके काव्य का मुख्य आदर्श बनकर उभरता है। दिनकर ने भारतीय संस्कृति के मूल तत्व धर्म और कर्तव्य को बहुत महत्व दिया है। उनके काव्य में धर्म के प्रति श्रद्धा, जीवन में सही मार्ग पर चलने की प्रेरणा दी जाती है। वे भारतीय समाज के प्राचीन मूल्यों जैसे सत्य, अहिंसा, शांति, और एकता को अपने काव्य में प्रतिबिंबित करते हैं। उनका मानना था कि भारतीय संस्कृति की शक्ति इन नैतिक और मानसिक मूल्यों में ही निहित है-

उठे जहाँ भी घोष शान्ति का, भारत स्वर तेरा है,
धर्म-दीप हो जिसके भी कर में, वह नर तेरा है।
तेरा है वह वीर, सत्य पर जो अड़ने जाता है,
किसी न्याय के लिए प्राण अर्पित करने जाता है।।

इन काव्य पंक्ति में धर्म और कर्तव्य के प्रति दृढ़ विश्वास और संघर्ष की प्रेरणा दी गई है। दिनकर ने कुरुक्षेत्र के युद्ध को भारतीय संस्कृति के प्रतीक के रूप में प्रस्तुत किया है, जिसमें धर्म की रक्षा के लिए कर्तव्य निर्वाह अनिवार्य होता है।

दिनकर ने भारतीय धार्मिक और दार्शनिक परंपराओं को भी गहराई से समझा और उन्हें साहित्य में स्थान दिया। कुरुक्षेत्र में उन्होंने गीता के आदर्शों को व्यावहारिक जीवन के संदर्भ में प्रस्तुत किया है। इसमें युद्ध, धर्म, कर्म और न्याय जैसे विषयों पर भारतीय दृष्टिकोण व्यक्त किया गया है-

"क्षमा शोभती उस भुजंग को जिसके पास गरल हो,
उसको क्या जो दंतहीन विषरहित, विनीत, सरल हो।"

रश्मिरथी में धर्म और अधर्म के बीच संघर्ष को प्रमुखता से दर्शाया गया है। महाभारत का युद्ध धर्म की स्थापना के लिए लड़ा गया था। अर्जुन के माध्यम से दिनकर ने भारतीय संस्कृति के मूल सिद्धांतों को स्पष्ट किया है, जैसे सत्य, न्याय, धर्म

और कर्तव्य। अर्जुन के मन में जब कर्तव्य के प्रति संकोच उत्पन्न होता है, तब श्री कृष्ण के उपदेशों से भारतीय संस्कृति के आदर्श स्थापित होते हैं।

दिनकर राष्ट्रीयता की भावना से ओतप्रोत युक्त कवि हैं। वे लिखते हैं कि कवि होने का सामर्थ्य 'मुझमें भारतवर्ष का ध्यान करने से जाग्रत हुई, यह शक्ति मुझमें भारतीय जनता की आकुलता को आत्मसात करने से स्फुरित हुई।' 'रेणुका' और 'हुंकार' की कविताओं में राष्ट्रीयता का स्वर अत्यंत प्रखर है। प्रायः इन कविताओं में आह्वान, उद्बोधन, पुकार, बुलाव ये सब देखने को मिलते हैं। "परशुराम की प्रतीक्षा" में कवि देशवासियों से राष्ट्र की रक्षा के लिए अपना सर्वस्व न्योछावर करने के लिए प्रोत्साहित करते हैं:

दासत्व जहाँ है, वहीं स्तब्ध जीवन है,
स्वातन्त्र्य निरन्तर समर, सनातन रण है,

'हिमालय' दिनकर की अत्यंत प्रसिद्ध कविता है। इसमें भी भारतीयों के मन में बसे हुए गौरवपूर्ण अतीत की स्मृति है। हिमालय जैसे विशाल भारतीय जन-मानस का एक उदात्त प्रतीक बन जाता है, जो मौन त्याग कर चेतना हो जाए तो अन्याय की कड़ियां टूट जाएँगी-

भारत है आभा मनुष्य की सबसे बड़ी विजय की,
भारत है भावना दाह जग-जीवन का हरने की।

दिनकर के काव्य में भारतीय संस्कृति के वीरता और शौर्य की परंपरा का वर्णन बार-बार हुआ है। रश्मिरथी में कर्ण के माध्यम से उन्होंने इस संस्कृति के गौरव को अमर कर दिया- **"जो तटस्थ हैं, समय लिखेगा उनके भी अपराध।"** इनकी कविताओं में भारतीय संस्कृति की गहरी छाप मिलती है।

गरज कर बता सबको, मारे किसी के मरेगा नहीं हिन्द देश।

इस पंक्ति में दिनकर ने भारतीय वीरता और शौर्य को व्यक्त किया है। यह पंक्ति भारत की सामर्थ्य और शक्ति को दर्शाती है, जो विदेशी आक्रमणों से न डरकर उनकी चुनौती स्वीकार करती है।

भारतीय समाज की जड़ता को स्वीकार नहीं किया गया है। इसके साथ ही, दिनकर की राष्ट्रीय चेतना का एक दृढ़ आधार है- सामाजिक साम्य के प्रति उनका आग्रह। कवि की इच्छा है कि-

दलित हुए निर्बल सबलों से मिटे राष्ट्र, उजड़े दरिद्र जन,

आह ! सभ्यता आज कर रही असहायों का शोणित शोषण।
क्रान्ति-धात्रि कविते ! जाग उठ, आडम्बर में आग लगा दे;
पतन, पाप, पाखण्ड जलें, जग में ऐसी ज्वाला सुलगा दे।

यहाँ कविता का उद्देश्य साधारण जन-जीवन को अभिव्यक्त करना तो है ही, दलित मनुष्यों के जीवन में आशा की किरण जगाना भी है। इस प्रकार राष्ट्रीय चेतना को सामान्य जन-जीवन की ठोस भूमि पर प्रतिष्ठित करने का काम दिनकर जी भी कर रहे थे। इसी वजह से दिनकर जी जन-जागरण चाहते थे, इसी कारण वे विद्रोही और क्रांतिकारी राष्ट्रीय कवि भी बने। इसी कारण लक्ष्मीनारायण "सुधांशु" कहते हैं कि "राष्ट्रीयता उनकी आत्मा का प्रधान स्वर बन गया। आज़ादी के बाद 1963 में लिखी कविता 'किसको नमन करूँ ? में कवि भारतीय राष्ट्र की कल्पना करते हुए उसे अत्यंत विस्तृत भावना में बदल देते हैं -

भारत नहीं स्थान का वाचक, गुण विशेष नर का है,
एक देश का नहीं शील यह भूमंडल भर का है।
जहाँ कहीं एकता अखंडित, जहाँ प्रेम का स्वर है,
देश-देश में वहाँ खड़ा भारत जीवित भास्वर है!
निखिल विश्व की जन्म-भूमि-वंदन को नमन करूँ मैं?

इसमें कवि ने भारत देश के गौरव का गुणगान किया है। कवि ने यह बतलाने की कोशिश की है कि हमें अपने देश पर गर्व करना चाहिए। भारत वह देश है जिसके बारे में सोचने मात्र से ही मन सुंगधित हो जाता है। किसी कवि की राष्ट्रवादिता या देशभक्ति अंततः ऐसी ही हो सकती है। दिनकर ने मात्र राष्ट्रवादी उद्घोष करने वाले पर देश प्रेम व्यंजक कविताएँ ही नहीं लिखी, भारतीय राष्ट्र की सांस्कृतिक परंपरा की खोज करते हुए 'संस्कृति के चार अध्याय जैसा ग्रंथ भी लिखा। दिनकर अपनी कविताओं के माध्यम से जनता में चेतना लाना चाहते थे। अंग्रेजों के अत्याचार से भारतीय जनता जब कराह रही थी तब उन्होंने अपनी हिमालय" शीर्षक कविता में शोर्य तथा शक्ति के लिए. आह्वान किया-

रे रोक युधिष्ठर को न यहाँ, जाने दे उनको स्वर्ग धीर

दिनकर ने भारतीय समाज की कुरीतियों, जैसे जातिवाद, असमानता और शोषण पर कठोर प्रहार किया। उनकी कविताओं में सामाजिक न्याय और समानता की गूँज सुनाई देती है। परशुराम की प्रतीक्षा में उन्होंने जाति-पाँति पर कटाक्ष करते हुए

समानता का संदेश दिया। उन्होंने सामाजिक असमानताओं, शोषण और अन्याय के खिलाफ भी कविताएं लिखी हैं -

उठो, उठो, कुरीतियों की राह तुम भी रोक दो,
बढ़ो बढ़ो कि आग में गुलामियों को झोंक दो,

दिनकर ने भारतीय संस्कृति के संरक्षण और उसके आधुनिक संदर्भ में व्याख्या को भी रेखांकित किया है। उन्होंने अपने काव्य में यह संदेश दिया कि आधुनिकता की ओर बढ़ते हुए भी हमें अपनी सांस्कृतिक जड़ों को नहीं भूलना चाहिए। दिनकर भारतीय संस्कृति की परंपराओं के समर्थक थे, लेकिन उन्होंने आधुनिकता और प्रगतिशीलता को भी स्थान दिया। उनके विचारों में परंपरा और आधुनिकता का सुंदर समन्वय दिखाई देता है।

वास्तव में रामधारी सिंह दिनकर ने अपने साहित्य में भारतीय संस्कृति के गौरव को संजोने के साथ-साथ भारतीय संस्कृति की आत्मा को पूर्ण रूप से अभिव्यक्त किया है। उन्होंने न केवल भारतीय समाज के गौरव और परंपराओं को प्रस्तुत किया, बल्कि समाज सुधार, सामाजिक न्याय और प्रगतिशीलता की दिशा में भी मार्गदर्शन किया। उनके साहित्य में भारतीय संस्कृति की जटिलताओं, विविधताओं और गहराइयों का समावेश है। इस दृष्टि से दिनकर का काव्य भारतीय संस्कृति के गहरे प्रतीक और संवेदनाओं का आकाश है। उनकी कविता में भारतीय संस्कृति, परंपराओं और मूल्यों की प्रगाढ़ता दिखाई देती है। वे अपने काव्य के माध्यम से भारतीय सभ्यता की महानता, बलिदान, संघर्ष और न्याय के प्रति सच्चे समर्पण की ओर संकेत करते हैं। इस प्रकार, दिनकर का काव्य भारतीय संस्कृति के प्रति गहरी श्रद्धा और सम्मान का परिचायक है, जो हर भारतीय को अपने इतिहास और संस्कृति की महानता को समझने और उसका पालन करने की प्रेरणा देता है।

संदर्भ

1. रामधारी सिंह दिनकर, रश्मिरथी, लोकभारती प्रकाशन, 2012
2. रामधारी सिंह दिनकर, उर्वशी, राजकमल प्रकाशन, 1961
3. रामधारी सिंह दिनकर, संस्कृति के चार अध्याय, राजकमल प्रकाशन, 1954
4. रामधारी सिंह दिनकर, परशुराम की प्रतीक्षा, लोकभारती प्रकाशन, 1963

सहायक आचार्य, हिन्दी विभाग
लक्ष्मीबाई महाविद्यालय, दिल्ली विश्वविद्यालय

काम के माहात्म्य का मिथकीय अभिधान है दिनकर की 'उर्वशी'

— प्रो. हरीश अरोड़ा

'उर्वशी' नाट्यगीत ने 'दिनकर' का स्थान सम्पूर्ण भारतीय साहित्य में तब सर्वोपरि कर दिया जब उन्हें इस कृति पर साहित्य का सर्वश्रेष्ठ सम्मान 'ज्ञानपीठ पुरस्कार' के रूप में मिला। पुरूरवा तथा उर्वशी के प्राचीन आख्यान को दिनकर ने एक नए अर्थ के रूप में इस कृति में प्रस्तुत किया है। इस कृति में कवि का काम और अध्यात्म का सन्तुलन स्थापित करने की चेष्टा की गई है। यह कृति प्रेम की सनातन समस्या को चिन्तन के पक्ष की ओर ले जाती है। 'प्रेम और सौन्दर्य' को कवि ने मनोवैज्ञानिक धरातल पर लाकर मन की कुण्ठा को वाणी दी है। काम की अतृप्त इच्छाओं से उत्पन्न व्याकुलता के कारण ही पुरुरवा कृति में कहता है —

किन्तु जग कर देखता हूँ
कामनाएं वर्तिका—सी बल रही हैं
जिस तरह पहले पिपासा से विकल थीं
प्यास से व्याकुल अभी भी जल रही हैं
रात भर मानो, उन्हें दीपक सदृश जलना पड़ा हो,
नींद में मानो किसी मरुथल में चलना पड़ा हो।[1]

दिनकर की 'उर्वशी' में पुरूरवा और उर्वशी के प्रेम के माध्यम से नट-नटी के प्रेम की प्रबल वृत्ति के दर्शन होते हैं। यह प्रेम ही दर्शन की शब्दावली में 'काम' के रूप में अभिहित किया जाता है। उनके काव्य में जहाँ क्रांति की साहसपूर्ण अभिव्यक्ति है वहीं प्रेम के उद्दाम आवेग की प्रखरता भी। उर्वशी में यह काम संदर्भीय प्रेम एक नवीन दर्शन के रूप में ढलकर आया है। डॉ. नगेन्द्र के अनुसार - "काम की अनुभूति के सूक्ष्म-प्रबल, कोमल-कठोर, तरल-प्रगाढ़, मोहक-पीड़क, उद्वेगकर और सुखकर,

दाहक और शीतल, मृण्मय और चिन्मय अनेक रूपों का 'उर्वशी' में अत्यन्त मनोरम चित्रण हुआ है और सबसे अधिक आकर्षण है प्रेम की उस चिर-अतृप्ति का चित्रण, जो भोग से त्याग और त्याग से भोग अथवा रूप से अरूप् और अरूप से रूप की ओर भटकती हुई मिलन और विरह में समान रूप से व्याप्त रहती है।"[2] उर्वशी काव्य का प्रतिपाद्य यही 'काम' है। इस कृति में कवि ने जीवन में विद्यमान प्रेम अथवा काम की व्याख्या दी है।

प्राचीन काल से पुराणों और उपनिषदों में 'काम' के संदर्भ में विचार होता रहा है। जहाँ वृहदारण्यक उपनिषद् में *'काममय स्वायं पुरुषः'* कहकर पुरुष में काम की स्थिति को स्वीकार किया गया है, वहीं मनुस्मृति में 'मनु' काम को जीवन की समस्त क्रियाओं का मूल मानते हैं —

अकामस्य क्रिया काचिद्दृश्यते नेह कर्हिचित।
यद्यद्धि कुरुते किंचित्तत्कामस्य चेष्टितम्।[3]

श्री शिव महापुराण में तो जीवन के दिव्य आनन्द में विचार को 'काम' से अभिहित किया गया है—

आनन्दममृत दिव्यं परं ब्रह्म तदुच्यते।
परमात्मेति चाप्युक्तं विकाराः कामसंज्ञिकाः।[4]

संस्कृत के अतुल ग्रंथ-भण्डार में काम पर विस्तार से विचार किया गया है। हिन्दी साहित्य में भी भक्तिकाल और रीतिकाल के कतिपय कवियों ने इस पर अपने विचार प्रस्तुत किए हैं। उन सभी के मतों और विचारों से स्पष्ट है कि काम एक ओर तो इन्द्रिय सुखों की प्रतिपूर्ति के लिए तथा दूसरी ओर दैहिक सुखों से परे मन की शांति के लिए हुआ है। लेकिन 'उर्वशीकार' ने काम की एक तीसरी कोटि को भी स्वीकार किया है जो इन्द्रियों और मन से परे चैतन्य आत्मा के सुख को स्वीकार करती हे। इसी चैतन्य आत्मा के प्रेम ने 'कामाध्यात्म' के रूप में उर्वशी में स्थान प्रदान किया है।

भारतीय 'कामाध्यात्म' की ओर यदि दृष्टि डाली जाए तो वह सर्वाधिक 'शाक्त दर्शन' से प्रभावित है। सृष्टि का विकास 'शिव' और 'शक्ति' के समन्वय में ही है। इनके बिना सृष्टि का विकास असम्भव है। 'शिव' शक्ति के बिना अपूर्ण हैं और 'शक्ति' शिव के बिना। यही प्रेम का दिव्य रूप है। 'उर्वशी' में प्रेम के इसी दिव्य रूप को दिनकर ने स्वरूप देते हुए लिखा —

वह निरभ्र आकाश, जहाँ की निर्विकल्प सुषमा में
न तो पुरुष मैं पुरुष, न तुम नारी केवल नारी हो।
दोनों हैं प्रतिमान किसी एक ही मूल सत्ता के
देह-बुद्धि से परे, नहीं जो नर अथवा नारी है।[5]

अन्य सम्प्रदायों में 'काम' को पाप की श्रेणी में रखा जाता है लेकिन शाक्त-सम्प्रदाय में इसे पवित्र कर्म की संज्ञा दी गई है। दिनकर ने अपनी कृति 'संस्कृति के चार अध्याय' में शाक्त धर्म के संदर्भ में विचार प्रकट करते हुए लिखा कि शाक्त धर्म में अपने साधकों से कहा गया है — "तुम उस स्थिति में आ गए हो जब नारी समागम तुम्हारे लिए पाप नहीं उदात्तीकृत आनन्द का ही प्रतीक होगा।"[6] उर्वशी में सर्वत्र इसी विचार को ही व्यंजित किया गया है। 'उर्वशी' की भूमिका में दिनकर ने लिखा है कि — "प्रेम की एक उदात्तीकरण स्थिति वह भी है, जो समाधि से मिलती जुलती है। जिसके व्यक्तित्व का देवोपम विकास हुआ है, जिसके स्नायविक तार चेतन और सजीव हैं तथा जिसका मन स्वभाव से ही, ऊर्ध्वगामी और उड्डयनशील है, उसे काम के स्पर्शमात्र से इस समाधि का बोध होता है।"[7]

मनुष्य जीवन में अपने लैंगिक स्थिति द्वारा ही अपनी काम—साधना का आरम्भ करता है। लेकिन धीरे-धीरे वह काम की दैहिक साधना से उठकर शुद्ध आध्यात्मिक स्थिति को जाता है। काम की यही साधना ऊर्ध्वमुखी है —

ये किरणें, ये फूल, किन्तु, अन्तिम सोपान नहीं है
उठना होगा बहुत दूर, ऊपर, इनके तारों पर।
स्यात् ऊर्ध्व उस अम्बर तक जिसकी ऊँचाई पर से
यह भृत्ति का विहार, दिव्य किरणों का हीन लगेगा।[8]

उर्वशीकार ने उर्वशी में काम के दो रूपों की स्वीकारोक्ति की है — धर्म रूप और पाप रूप। तांत्रिक वामाचार में काम के माध्यम से ही मुक्ति की खोज की जाती है। यही काम जीवन को पतन की ओर भी ले जाता है और इसी के सहारे ही जीवन ऊपर की ओर भी उठ सकता है। जीवन के संदर्भों में पाप पुण्य एक-दूसरे के पर्याय बन जाते हैं। संदर्भ-अंतरण से पाप 'पुण्य' भी हो सकता है —

काम धर्म, काम ही पाप है, काम किसी मानव को
उच्चलोक से गिरा हीन पशु—जन्तु बना देता है।
और किसी मन में असीम सुषमा की तृषा जगाकर

पहुँचा देता से किरण-सेवित अति उच्च शिखर पर।[9]

शाक्त तंत्र में माया-आबद्ध जीव को 'पशु' की संज्ञा दी गई है। यही माया उसके प्रेम को जब वासना में परिवर्तित कर देती है तब वह बलात् रूप में 'पाप' होता है और जब जीव 'काम' को उदात्तीकृत कर उससे आनन्द प्राप्त करता है तब वह 'धर्म' की स्थिति में होता है। यह स्थिति परम आनन्द की स्थिति होती है। इस स्थिति में जीव को 'काम' की दग्धता भी स्निग्ध और शीतल प्रतीत होती है —

यह अति क्रान्ति वियोग नहीं, शोणित के तप्त ज्वलन का
परिवर्तन है स्निग्ध, शान्त दीपक की सौम्य शिखा में।[10]

दिनकर ने 'शाक्त' और 'सहजिया' सम्प्रदायों के मतों द्वारा प्रेम के जिस उदात्तीकृत रूप को मुक्ति की प्राप्ति का साधन माना है वहीं 'विधि निषेध' असहज पद्धति के लिए उसका निषेध भी किया है। विधि-निषेध की शास्त्रीय पद्धति इस कामाध्यात्म की स्थिति में जीव को मुक्ति देने में अक्षम होती है इसीलिए कवि कहता है —

और ज्वार जो भी उठता ऊपर अवचेत अतल से
विधि निषेध का उस पर कोई जोर नहीं चलता है।[11]

विधि निषेध की पद्धति में प्रेम और काम की स्थिति द्वैत-भाव से बँधी रहती है। कठिन होने के कारण यह 'अद्वैत भाव' तक नहीं पहुँच पाती। किन्तु सहज भावना द्वारा जीव द्वैत से उठकर अद्वैत तक पहुँच जाता है। जहाँ मन शुभ और अशुभ की विचारणा का त्याग करता है वहीं वह अद्वैत की अवस्था को प्राप्त करता है —

किन्तु शुभाशुभ भावों से, मन के तटस्थ होते ही,
न तो दीखता भेद, न कोई शंका ही रहती है।[12]

उर्वशी में काम की इस अवधारणा में दिनकर पर जहाँ शाक्त और तंत्र दर्शनों का प्रभाव स्पष्ट दृष्टिगत होता है, वहीं पश्चिम के विचारकों लॉरेंस और रसल के काम सम्बन्धी विचारों का प्रभाव भी स्पष्ट है। फ्रायड के काम सम्बन्धी विचारों की परम्परा के विकसित रूप में लॉरेंस ने बुद्धिवाद का विरोध करते हुए काम का समर्थन किया था। उसने 'बौद्धिक सेक्स' की जमकर भर्त्सना की है। मध्ययुग की आदर्शवादिता के चलते समाज में आई जड़ता को लॉरेंस ने तोड़ने के लिए ही 'काम' का समर्थन किया क्योंकि इसी से ही 'जड़ता की ग्रंथियाँ' खुल सकती हैं। दिनकर ने भी इसी विचार को 'उर्वशी' में ज्वलंत प्रश्न के रूप में ही स्वीकार किया है —

वह आलिंगन अंधकार है, जिसमें बँध जाने पर
हम प्रकाश के महासिन्धु में उतराने लगते हैं?
और कहोगे तिमिर—शूल उस चुंबन को भी जिससे
जड़ता की ग्रंथियाँ निखिल तन-मन की खुल जाती हैं? [13]

वास्तव में आधुनिक मानव की समस्या काम की भावना को छिपाने की है, जिससे जीव कामपूर्ति के अभाव में अनेक मनोवेगों से ग्रसित हो जाता है। वह सुन्दर देह को सुन्दर तो मानता है लेकिन अपनी भावानुभूतियों में ही उन्हें दबा देता हे। उर्वशी पुरूरवा के इसी भावावेग की दबी हुई कुण्ठा को तोड़कर उसे अपने रूप सौन्दर्य की वास्तविकता के प्रति आकर्षित करती है और पुरूरवा कह उठता है —

एक मूर्ति में सिमट गयीं, किस भाँति सिद्धियाँ सारी
कब था ज्ञात मुझे इतनी सुन्दर होती हैं नारी।[14]

लारेंस 'मानसिक काम' की निन्दा करते हैं। उनके विचार में मानसिक काम ने ही समाज को रोगी बना रखा है। यह मानसिक काम उनकी दृष्टि में विष के समान है। दिनकर भी लॉरेंस की तरह शारीरिक काम का समर्थन करते हैं और 'मानसिक काम' की निन्दा —

तन का काम अमृत, लेकिन यह मन का काम गरल है।[15]

शरीर तो प्रकृति के हाथों का यंत्र हे। उसकी क्षुधा प्रकृतिजन्य है लेकिन मन का काम एक ऐसा रोग है जो व्यक्ति को नीचे गिराता है —

तन का क्या अपराध, यन्त्र वह तो सुकुमार प्रकृति का,
सीमित उसकी शक्ति और सीमित आवश्यकता है।[16]

शारीरिक प्रेम की कामानुभूति को तो फिर भी शांत किया जा सकता है लेकिन मन तो सदैव इच्छाओं की नई शृंखला तैयार करता है। वह कभी संतुष्ट नहीं हो पाता। शारीरिक और मानसिक काम का द्वंद्व चलता रहता है। बुद्धि मनुष्य को भटकाती है किन्तु जब उसे सत्य का ज्ञान होता है तो प्रेम 'अमृत शिखा' तुल्य लगता है। यहाँ मनुष्य रक्त और बुद्धि के भेद को समझ जाता है। उर्वशीकार 'उर्वशी' के द्वारा पुरूरवा के मन पर छाए बुद्धि के आवरण को क्षीण करता है —

रक्त बुद्धि से अधिक बली है और अधिक ज्ञानी भी,
क्योंकि बुद्धि सोचती और शोणित अनुभव करता है।[17]

वास्तव में रक्त ही मनुष्य को चैतन्यमयी अवस्था में बनाए रखने में सक्षम है।

बुद्धि तो काम की भावात्मकता को कुण्ठा में परिवर्तित करती है। इसीलिए 'रक्त की भाषा' बुद्धि से अधिक सशक्त होती है—

तुम निरूपते सो विराग जिसकी भीषिका सुनाकर
मेरे लिए सत्य की वाणी वही तप्त शोणित है।
पढ़ो रक्त की भाषा को, विश्वास करो इस लिपि को,
यह भाषा, यह लिपि मानस को कभी न भर पायेगी।[18]

दिनकर पर बर्ट्रेड रसल की विचारधारा का भी गहरा प्रभाव पड़ा है। रसल ने नारी को पुरुष के प्रति पूर्ण समर्पिण की भावना से मुक्त रहने को कहा है। क्योंकि पूर्ण समर्पिता नारी से तृप्त होकर पुरुष अन्य नारी की ओर आकृष्ट होता है। वह नित्य नवीन प्रेम को खोजता है। पुरूरवा का औशीनरी को छोड़कर उर्वशी की ओर आकर्षित होना इसी विचार की सघटनता को परिलक्षित करता है —

उस पर भी नर में प्रवृत्ति है, क्षण-क्षण अकुलाने की
नयी-नयी प्रतिमाओं का, नित नया प्यार पाने की।
वश में आयी हुई वस्तु से इनको तोष नहीं है
जीत लिया जिसको उससे आगे संतोष नहीं है।[19]

रसल का मत है कि नारी को विवाह के पश्चात् पुरुष के प्रति गोपनीयता को बनाए रखना चाहिए अन्यथा काम की भावना शिथिल पड़ जाएगी। वैवाहिक जीवन की सार्थकता इसी गोपनीयता पर ही है—

क्षण-क्षण प्रकटे, दुरे, छिपे फिर-फिर जो चुम्बन लेकर
ले समेट जो निज को प्रिय के क्षुधित अंक में देकर।

X X X X

प्रियतम को रख कसे निमज्जित जो अतृप्ति के रस में
पुरुष बड़े सुख से रहता है उस प्रमदा के वश में।[20]

जीव के लिए यह साधना वास्तव में योगी की साधना के समान है। इसी साधना द्वारा ही प्रेम की नाव दिव्य लोक तक पहुँचती है जहाँ पहुँचने के लिए तन का अतिक्रमण आवश्यक है—

ऊपर हो घुतिमान, मनोमय जीवन झलक रहा है,
उसे प्राप्त हम कर सकते हैं तन के अतिक्रमण से।[21]

यहाँ यह विचारणीय है कि उर्वशी का प्रेम अतीन्द्रियता की कुण्ठा से मुक्त होकर

मानव के ऐन्द्रिय प्रेम को भोगने का इच्छुक है। वह ऐन्द्रिय धरातल पर किए काम—सुख को ही पूर्ण सत्य स्वीकारती है लेकिन पुरूरवा के लिए 'देह प्रेम की जन्मभूमि है' और इसी के अतिक्रमण से ही जीव दिव्य प्रेमानुभूति को प्राप्त करता है—

यह सीमा प्रसरित है मन के गहन, गुह्य लोकों में,
जहाँ रूप की लिपि अरूप की छवि आँका करती है,
और पुरुष प्रत्यक्ष विभासित नारी—मुखमंडल में
किसी दिव्य, अव्यक्त कमल को नमस्कार करता है।[22]

उर्वशी और पुरूरवा का यह प्रेम देह से परे अदेह की अनुभूति की यात्रा है। जो आनन्द के परम शिखर पर पहुँचने के लिए ही एक-दूसरे के प्रति अर्पित होते हैं।

उर्वशी और पुरूरवा दोनों ही निरुद्देश्य आनन्द की प्राप्ति के लिए अपनी आत्मा को अर्पित करना चाहते हैं लेकिन उर्वशी का अर्पण प्रकृति अथवा ऐन्द्रिय काम-सुख के लिए है और पुरूरवा का अर्पण प्रकृति के माध्यम से ईश्वर के प्रति है। दोनों ही काम के धरातल पर निरुद्देश्य आनन्द की ओर अग्रसर रहते हैं। उर्वशी का यह निरुद्देश्य आनन्द ही काम के माहात्म्य का मिथकीय अभिधान है।

आनन्द नारायण शर्मा इस कृति को आधुनिक हिन्दी कविता में 'कामायानी' के बाद की सर्वोत्कृष्ट रचना स्वीकारते हैं। उनके शब्दों में — "उर्वशी निस्सन्देह 'कामायानी' के बाद आधुनिक हिन्दी कविता की दूसरी सबसे प्रमुख उपलब्धि है, न केवल जीवन के एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण प्रश्न को मौलिक ढंग से उठाने की दृष्टि से, बल्कि भाषा की प्रौढ़ता और सम्मूर्त्तनविधान की दृष्टि से भी।"[23] इस कृति में भौतिक से परे भौतिकोत्तर सौन्दर्य के प्रति अर्पण का भाव ही इसे दैहिक से अलौकिक आनन्द में परिवर्तित करता है। कामाध्यात्मक का ऐसी दुर्लभ और अतुल्य कृति हिन्दी साहित्य में निस्संदेह दूसरी नहीं है।

संदर्भ

1. रामधारी सिंह दिनकर, उर्वशी, उदयाचल, पटना, संस्करण 1971, पृष्ठ 51
2. डॉ. नगेन्द्र, 'डॉ. नगेन्द्र की व्यावहारिक आलोचना', शुक्लोत्तर आलोचना और डॉ. नगेन्द्र, पुष्प अग्रवाल, संस्करण 1978, पृष्ठ 171 से उद्धृत
3. मनुस्मृति, श्लोक 2.4, टीकाकार : पंडित रामेश्वर भट्ट, प्रकाशक पेण्डुरंग जावजी, बम्बई, संस्करण 1922, पृष्ठ 16
4. श्लोक 13.22, श्री शिव महापुराण, गीताप्रेस, गोरखपुर, संवत 1989, पृष्ठ 78

5. रामधारी सिंह दिनकर, उर्वशी, उदयाचल, पटना, चौथा संस्करण 1971, पृष्ठ 61
6. रामधारी सिंह दिनकर, संस्कृति के चार अध्याय, उदयाचल, पटना, तीसरा संस्करण 1962, पृष्ठ 218
7. रामधारी सिंह दिनकर, 'भूमिका', उर्वशी, उदयाचल, पटना, चौथा संस्करण 1971, पृष्ठ ग
8. रामधारी सिंह दिनकर, उर्वशी, उदयाचल, पटना, चौथा संस्करण 1971, पृष्ठ 59
9. रामधारी सिंह दिनकर, उर्वशी, उदयाचल, पटना, चौथा संस्करण 1971, पृष्ठ 82
10. रामधारी सिंह दिनकर, उर्वशी, उदयाचल, पटना, चौथा संस्करण 1971, पृष्ठ 62
11. रामधारी सिंह दिनकर, उर्वशी, उदयाचल, पटना, चौथा संस्करण 1971, पृष्ठ 85
12. रामधारी सिंह दिनकर, उर्वशी, उदयाचल, पटना, चौथा संस्करण 1971, पृष्ठ 77
13. रामधारी सिंह दिनकर, उर्वशी, उदयाचल, पटना, चौथा संस्करण 1971, पृष्ठ 46
14. रामधारी सिंह दिनकर, उर्वशी, उदयाचल, पटना, चौथा संस्करण 1971, पृष्ठ 24
15. रामधारी सिंह दिनकर, उर्वशी, उदयाचल, पटना, चौथा संस्करण 1971, पृष्ठ 83
16. रामधारी सिंह दिनकर, उर्वशी, उदयाचल, पटना, चौथा संस्करण 1971, पृष्ठ 83
17. रामधारी सिंह दिनकर, उर्वशी, उदयाचल, पटना, चौथा संस्करण 1971, पृष्ठ 57
18. रामधारी सिंह दिनकर, उर्वशी, उदयाचल, पटना, चौथा संस्करण 1971, पृष्ठ 59—59
19. रामधारी सिंह दिनकर, उर्वशी, उदयाचल, पटना, चौथा संस्करण 1971, पृष्ठ 34
20. रामधारी सिंह दिनकर, उर्वशी, उदयाचल, पटना, चौथा संस्करण 1971, पृष्ठ 34—35
21. रामधारी सिंह दिनकर, उर्वशी, उदयाचल, पटना, चौथा संस्करण 1971, पृष्ठ 61
22. रामधारी सिंह दिनकर, उर्वशी, उदयाचल, पटना, चौथा संस्करण 1971, पृष्ठ 60
23. आनन्द नारायण शर्मा, सुकवि समीक्षा, शिक्षा भारती, नई दिल्ली, संस्करण 1958, पृष्ठ 207

प्राध्यापक, पीजीडीएवी कॉलेज (सांध्य)
दिल्ली विश्वविद्यालय

ओजस्वी कवि दिनकर : भूतल में दिव्य प्रकाश भरे

— डॉ. मलखान सिंह

आधुनिक हिंदी साहित्य के इतिहास में रामधारी सिंह ‘दिनकर’ परिवर्तनकामी चेतना के ओजस्वी कवि हैं। वे अंधकार में प्रकाश की तरह, समुद्र में लहर की तरह, धरती में बवंडर की तरह, बादल में बिजली की तरह अपने पाठकों के मन-मस्तिष्क को कौंध से भर देने वाले जागृत कवि हैं। इनके काव्य में सांस्कृतिक चेतना और राजनीतिक प्रतिरोध की सशक्त अभिव्यक्ति हुई है। इतिहासबोध, यथार्थबोध और राष्ट्रबोध ने उनकी रचनात्मकता को नई धार दी है। वे प्रबल सामाजिक-सांस्कृतिक चेतना के कवि हैं। उनकी कविताएं स्वतंत्रता संग्राम के दौरान संघर्षरत जनता को प्रेरणा देती रहीं हैं और आजादी के बाद उनकी रचनाएं लोकतंत्र और सामाजिक न्याय की लड़ाई की आवाज बनीं। उनके काव्य में यथार्थ, संघर्ष और स्वप्न का त्रिकोण मिलता है। इस प्रकार दिनकर का रचनात्मक कलेवर विचार और संवेदना के व्यापक धरातल पर विकसित होता है।

दिनकर अपने पूर्वजों की रचनात्मक विरासत को सहेजने और आगे बढ़ाने वाले कवि हैं। वे परम्परा के उदात्त और प्रगतिशील तत्वों की उपेक्षा को राष्ट्रीय अस्मिता के लिए घातक मानते हैं। दिनकर के अनुसार –परम्परा केवल मुख्य वही नहीं है जिसकी रचना बाहर हो रही है, कुछ वह भी प्रधान है जो हमें अपने पुरखों से विरासत के रूप में मिली है, जो निखिल भूमंडल के साहित्य के बीच हमारे अपने साहित्य की विशेषता है और जिसके भीतर से हम अपने हृदय को अपनी जाति के हृदय के साथ आसानी से मिला सकते हैं।”[1] इसप्रकार दिनकर परम्परा के उदात्त तत्वों को अस्मिताबोधक मानते हैं। अपनी परम्परा से कट जाना अपनी अस्मिता को मिटा देना है। क्यों कि परम्परा में हमारे पूर्वजों के विकास यात्रा का इतिहास, दर्शन,

कौशल और अनुभव समाहित होते हैं। दिनकर का काव्य परम्परा बोध का काव्य है।

दिनकर की लोकप्रियता का आधार उनके सृजन का सहज अभिग्रहण है। अभिग्रहण और लोकप्रियता की दृष्टि से आज की कविता बेहद कमजोर है। इसलिए कविता की दुनिया सिकुड़ती जा रही है। पन्त ने कविता को 'प्राणों का संगीत' और छंद को 'हृत्कम्पन' कहा है। दिनकर को काव्य के प्राण और उसकी शक्ति की पहचान थी। इसलिए वे रस, छंद, अलंकार, बिम्ब, प्रतीक, लय आदिसे युक्त काव्य का सृजनकिया। वे नवीनता के विरोधी नहीं हैं। वे परम्परा के साथ नवीनता के आग्रही थे। परम्परा में कुछ भी प्रासंगिक नहीं है-यह एक प्रतिगामी और आत्मघाती विचार है। परम्परा के प्रति ग्रहण और त्याग का विवेक ही रचनात्मकता को गतिशील और सार्थक बनाता है। समकालीन साहित्यिक परिदृश्य में आख्यानमुक्त, छंदमुक्त, लयमुक्त कविता रचने की जिद ने काव्य के सौन्दर्य, रस और भाव के सहज प्रवाह को बाधित कर दिया है। दिनकर के काव्य में एक तरफ सौन्दर्य, लय, रस का प्रवाह है तो दूसरी तरफ काव्य की अंतर्वस्तु में संघर्ष की प्रखर चेतना व्याप्त है. इसप्रकार वे परम्परा के औदात्त से जोड़ने वाले आधुनिक भावबोध के कवि हैं।

संवादधर्मिता हमारी साहित्यिक परम्परा की मूल विशेषता है। दिनकर संवादधर्मी रचनाकार हैं। वे अपनी कविता के माध्यम से संवाद की परम्परा को जीवंत बनाते हैं। वे अपने समय-समाजके साथ सहज संवाद स्थापित करते हैं। दिनकर की रचनाधर्मिता में संवाद की लय मिलती है। वे अपनी रचना के माध्यम से अतीत, वर्तमान और भविष्य से संवाद स्थापित करते हैं। संवाद से बर्फ पिघलती है और नई संभावनाएं जन्म लेती हैं। दिनकर उद्वेलित करने वाले या शोर मचाने वाले कवि नहीं हैं। वे वास्तव में परिवर्तन के आकांक्षी हैं। इसलिए उनमें अन्याय, भेदभाव, शोषण और जड़ता के प्रति आक्रोश और बेचैनी है। जब कविता का दायरा सिमट जाता है, वह आस्वादन के बजाय केवल आलोचनात्मक मूल्यांकन तक सीमित हो जाती है। तब लेखक और पाठक के बीच का तादात्म्य टूट जाता है। सार्त्र का यह मत सर्वथा समीचीन प्रतीत होता है कि "लेखक को सृजन क्षमता केवल ज्ञान या प्रतिभा से नहीं, बल्कि उसके समाज से मिलती है।"[2] आज साहित्य से समाज कटता जा रहा है। ऐसे में दिनकर जैसी संवादधर्मी रचनात्मकता की आवश्यकता है। दिनकर के अनुसार संवादधर्मी साहित्य सकारात्मक वातावरण बनाता है और मस्तिष्क को संकीर्ण दायरों से मुक्त करता है। इसप्रकार अनुभूति और चिंतन की

सहज एवं लयबद्ध अभिव्यक्ति ही दिनकर के काव्य को संवादधर्मी और लोकप्रिय बनाती है। दृश्य जगत के अनुभवों को संवादधर्मी शब्दों में ढाल देना ही सौन्दर्य विधान है। साहित्यिक सौन्दर्य का आधार ऐसा शब्द विधान, जो पाठक के मन और मस्तिष्क को ऊष्मा और ताजगी से भर दे। उसे सत्यनिष्ठ, कर्तव्यनिष्ठ और सहृदय बना दे तथा उन्मुक्त धरातल पर अकुंठ भाव से उदार और संवेदनशील विचारो के साथ जीना सिखा दे - रचनात्मक वृत्तियों का सहचर बना दे तथा मूल्यबोध के साथ भविष्योन्मुख बना दे - ऐसी काव्यकला को सौन्दर्यमूलक माना गया है।

जीवन्तता दिनकर के काव्य की मूल विशेषता है। उनके अनुसार वास्तविक सौन्दर्य शक्तिशाली जीवन्तता में है। इसलिए फूलों और तितलियों से ज्यादा सौन्दर्य वे पहाड़ों और झरनों में देखते हैं, उनके अनुसार समय के साथ सौन्दर्य का मानदंड भी बदला है। वे कहते हैं–

अब खोजो सौन्दर्य
गगनचुम्बी निर्वाक पहाड़ों में
कूद पड़ी जो अभय शिखर से
उन प्रपात की धारों में।
सागर की उत्ताल लहर में
बलशाली तूफानों में
प्लावन में किश्ती खेने वालों के मस्त तरानों में। (शक्ति और सौन्दर्य)

हिंदी साहित्य में शक्ति सौन्दर्य की एक पूरी परम्परा रही है। जो निराला से लेकर दिनकर तक मिलती है- शक्ति की करो मौलिक कल्पना। जहाँ शक्ति है, वहीं सौन्दर्य है। शक्ति के बिना सौन्दर्य निस्सार है। मनुष्य रचनाधर्मी प्राणी है। मानव सभ्यता के विकास का इतिहास उसकी रचनाधर्मिता का प्रमाण है। दिनकर की सौन्दर्य दृष्टि के केंद्र में मनुष्य है। वह मनुष्य जो श्रम और विवेक से अपने जीवन को सुन्दर बनाता है। दिनकर की संवेदना श्रमशक्ति के प्रति है न की उत्पीड़क शक्ति के प्रति है। मूलतःदिनकर शक्ति-सौन्दर्य और न्याय के कवि हैं–

हैं सौन्दर्य शक्ति का अनुचर
जो हैं बली, वही सुंदर
सुंदरता निस्सार वस्तु है
हो न साथ में शक्ति अगर (सौन्दर्य और शक्ति)

दिनकर कर्मवादी रचनाकार हैं। वे कथनी से ज्यादा सार्थक करनी को सुन्दर मानते है। **उन्होंने न्याय के लिए संघर्ष और निर्माण के लिए श्रम को अधिक सुन्दर माना है**। उनके अनुसार जीवन की डाली कर्म कुसुम के बिना सुन्दर नहीं हो सकती –

सुंदरता आनंद मूर्ति है, प्रेम-नदी मोहक मतवाली
कर्म-कुसुम के बिना किंतु क्या भर सकती जीवन की डाली[3]

दिनकर ओज और शौर्य के कवि हैं। शौर्य केन्द्रित साहित्य न्याय की लड़ाई को गतिशील बनाता है। जीवन सौन्दर्य का आधार न्याय और कर्म है, जहाँ न्याय है वहीं धर्म है.जहाँ कर्म न्याय आधारित है, वहीं प्रगति है।

रामधारी सिंह 'दिनकर' की रचनाओं में प्रतिरोध का स्वर प्रमुख रूप से व्यक्त हुआ है। प्रतिरोध ही उनके काव्य का मूल सौन्दर्य है.उनके काव्य मेंअन्याय और असमानता के खिलाफ संघर्ष की गाथा है। दिनकर के काव्य में प्रतिरोध केवल क्रांति का आह्वान नहीं करता, बल्कि वह अन्याय के हर स्वरूप को चुनौती देता है। चाहे वह स्वतंत्रता संग्राम के दौरान विदेशी शासन के खिलाफ विद्रोह हो, या समाज में व्याप्त कुरीतियों के खिलाफ संघर्ष हो, या आंतरिक राजनीतिक और नैतिक पतन के खिलाफ चेतावनी हो, दिनकर का काव्य हर स्तर पर प्रतिरोध का प्रतीक बनता है -

समर शेष है, नहीं पाप का भागी केवल व्याध,
जो तटस्थ हैं, समय लिखेगा उनका भी अपराध। (नील कुसुम)

दिनकर ने अपने काव्य में शोषक और उत्पीड़क व्यवस्था के खिलाफ क्रांति और संघर्ष का आह्वाहन किया है। उनकी कविताओं से यह स्पष्ट होता है कि बिना प्रतिरोध के परिवर्तन संभव नहीं है।

रामधारी सिंह 'दिनकर' का काव्य प्रबल राजनीतिक चेतना का काव्य है। दिनकर की लेखनी भारतीय राजनीति में नैतिकता, समानता और जनहित के मूल्यों को स्थापित करने का अमूल्य प्रयास है। दिनकर की रचनाओं ने भारतीय समाज और राजनीति को अत्यंत प्रभावित किया है। दिनकर के काव्य में राजनीति केवल सत्ता का खेल नहीं है, बल्कि जनता के स्वप्न और संघर्ष का प्रतिनिधित्व करती है तथा कर्तव्य और अधिकार का बोध कराती है। उनकी रचनाओं में स्वतंत्रता, समानता, लोकतंत्र और न्याय जैसे विषयों को गहराई से उठाया गया है। *"लोकतंत्र*

*का जन्म"*कविता में वे लोकतंत्र के सशक्तिकरण और जनता के अधिकारों को अधिक महत्व देते हैं। इसीप्रकार *"परशुराम की प्रतीक्षा"* कविता में उन्होंने न केवल सामाजिक अन्याय को उजागर किया, बल्कि तटस्थता और उदासीनता की राजनीति पर प्रहार भी किया। दिनकर का काव्य आजादी के बाद की राजनीतिक विसंगतियों, बढ़ते भ्रष्टाचार, जन उपेक्षा और सत्ता के दुरुपयोग के खिलाफ चेतावनी का काव्य है।

दिनकर के काव्य में अन्तर्निहित राजनीतिक चेतना ही उसकी काव्यात्मक विलक्षणता है। आधुनिक कविता का राजनीतिक नाद पीड़ितों, दलितों की जीवन चेतना है। इसे देखने के लिए आलोचना में नयी सौन्दर्य दृष्टि का विकास हुआ। दिनकर सृजन चेतस कवि हैं। वे सृजन के बदलते आयाम को समझ रहे थे और उसे अपनी रचनात्मकता से समृद्ध भी कर रहे थे। वे इलिएट से लेकर अज्ञेय तक प्रसंशात्मक भाव रखने के बावजूद उनके काव्य मूल्य को स्वीकार नहीं कर पाए। वे व्यक्तिनिष्ठता के बजाय सामाजिकता, आत्मविलाप के स्थान पर प्रखर प्रतिरोध, अतीतग्रस्तता के स्थान पर भविष्योन्मुख, समयसापेक्ष सृजन को महत्त्व देते हैं। जनता के दुःख दर्द का मुख्य कारण सामाजिक भेदभाव और राजनीतिक विसंगतियां है। राजनीतिक चेतना के बिना प्रतिरोध या सृजन निरर्थक है। इसलिए दिनकर अपनी कविता के भीतर राजनीतिक नाद को काव्य सौन्दर्य के रूप में सृजित करते हैं। उनके अनुसार "जिन कविताओं को हम प्रगतिशील कविता कहते हैं, उनके प्रति जनता के रुझान का मुख्य कारण उनकी काव्यात्मक विलक्षणताएं नहीं, प्रत्युत उनके भीतर से सुनाई पड़ने वाला राजनीतिक नाद है।"[4]

दिनकर दुःख और विडम्बना पर चोट करने वाले मनुष्यताबोध के कवि हैं। वे सामाजिक भेदभाव, राजनैतिक पक्षपात, सामंती परिवेश के बीचपीड़ित, शोषित दुखी जन की करुणा और संघर्ष का काव्य रचते हैं और जड़ परम्पराओं का विरोध करते हैं। वे स्त्री, दलित, किसान-मजदूर आदि पीड़ित समुदाय की मार्मिक व विडम्बनात्मक स्थिति को उजागर करते हैं तथा सामाजिक न्याय और सामाजिक समरसता के लिए आवाज उठाते हैं। दिनकर की कविता सामाजिक-धार्मिक संकीर्णता से आहत मनुष्य की कविता है। वे समाज में व्याप्त सामाजिक धार्मिक हिंसा और नफरत को देखकर सवाल करते हैं –

आह!सभ्यता के प्रांगण में आज गरल वर्षण वैसा!

घृणा सिखा निर्वाण दिखाने वाले यह दर्शन कैसा?[5]

दिनकर जानते थे कि लोकतंत्र के भीतर सामंतवाद घुन की तरह है जो धीरे धीरे पूरी व्यवस्था को खा जायेगा.इसलिए दिनकर आजादी के जश्न में डूबी जनता को आगाह करते हुए सामाजिक स्तर पर लोकतांत्रिक मूल्यों के सशक्तिकरण पर बल देते हैं। उन्होंने अपनी कालजयी रचना रश्मिरथी (1952) के प्रथम पृष्ठ पर महाभारत के प्रसिद्ध श्लोक के माध्यम से मनुष्य की श्रेष्ठता का प्रतिपादन किया है। महाभारतकार के अनुसार मनुष्य जन्म से नहीं कर्म से श्रेष्ठ होता है। सामाजिक शोषण और अन्याय का कारण जातिवादी भेदपरक मानसिकता है। इसलिए दिनकर कर्ण के माध्यम से सामाजिक संकीर्णता और जातिगत भेदभाव का प्रतिकार करते हैं तथा समतामूलक समाज का स्वप्न देखता है - "मैं उनका आदर्श, जो कहीं व्यथा न खोल सकेंगे।"[6] इस प्रकार परम्परा बोध के साथ अपने समय के यथार्थ से टकराना और भविष्य की संभावनाएं तलाशना ही दिनकर की सृजना का मुख्य उद्देश्य है।

दिनकर सांस्कृतिक राष्ट्रवाद की अलख जगाने वाले कवि है। इस सन्दर्भ में **हिमालय** उनकी बहुचर्चित कविता है। ब्रिटिश राज के विरुद्ध जिस आत्मगौरव, पौरुषता, दृढ़ता और आत्मबल की जरुरत थी, उसे दिनकर हिमालय कविता के माध्यम से प्रकट करते हैं–

मेरे नगपति ! मेरे विशाल
साकार दिव्य गौरव विराट्
पौरुष के पुंजीभूत ज्वाल
तू ध्यान मग्न ही रहा, इधर
वीरान हुआ प्यारा स्वदेश

हिमालय स्वर्णिम अतीत का साकार गौरव है। हिमालय दिव्य और विराट है इसलिए पौरुष का पुंजीभूत ज्वाल है। जो हमें हमारी स्मृतियों से जोड़ता है। हमारे पुरखों के गौरव, श्रम और शौर्य से परिचित कराता है। यहाँ पुंजीभूत शब्द राष्ट्रीय-सांस्कृतिक एकता का बोध कराता है तथा आत्मलीन बुद्धिजीवियों को जगाता है। उन्हें अपने प्यारे स्वदेश हित के लिए आगे आने का आह्वाहन करता है। इस प्रकार दिनकर सांस्कृतिक राष्ट्रवाद की भावना को सींचने वाले कवि हैं।

रामधारी सिंह 'दिनकर' प्रबल राष्ट्रीय चेतना के कवि हैं। उनका काव्य शौर्य, साहस, संघर्ष, क्रांति और देशप्रेम की भावना से ओत-प्रोत है। उन्होंने अपनी प्रसिद्ध

काव्य रचना *''रेणुका''* में मातृभूमि की सेवा के लिए युवाओं को ओज और जोश से लबरेज किया है.महान स्वतंत्रता संग्राम सेनानियों के अमर बलिदान को बार बार याद किया है :

''जला अस्थियां बारी-बारी,
चिटकाई जिनमें चिंगारी। ''

दिनकर ने राष्ट्रीय चेतना को केवल राजनीतिक क्रांति या स्वतंत्रता संग्राम की महान स्मृतियों तक ही सीमित नहीं रखा, बल्कि सामाजिक समस्याओं और असमानताओं पर भी प्रहार किया। उन्होंने राष्ट्रीयता को मानवता से जोड़करव्यक्त किया। उनके अनुसार -''कविता मनुष्यता को आत्मसात न करे तो भावात्मक आवेश या तो सूख जायेगी या फिर उन्माद का रूप ले लेगी।''[7] दिनकर विस्तृत और व्यापक भावलोक के सर्जक कवि हैं। वे लोकतान्त्रिक मूल्यों के साथ राष्ट्रीयता की भावना को सुदृढ़ बनाते हैं। उनके भावलोक में पूरी मनुष्यता समाहित है।

इस प्रकार दिनकर समग्रताबोध के प्रखर कवि हैं। वे धरती के सौन्दर्य को अपने काव्य का सौन्दर्य बनाते हैं। वे रहस्यमयी जादुई चमत्कार की अपेक्षा मनुष्य के पुरुषार्थ को सुन्दर मानते हैं। स्वप्न और सत्य शीर्षक कविता में कवि स्वर्ग सुख को स्वप्न, और धरती को सत्य कहता है-

इसी से तो समझता हूँ कि वे अच्छे रहे हमसे
नहीं जिनकी लकीरे वायुमंडल पर, मही पर है। (स्वप्न और सत्य)

दिनकर के अनुसार वही कविता उत्तम हो सकती है, जिसमें अपनी धरती को सुन्दर बनाने वाले विचार समाहित हों। दिनकर मूलतः वैचारिक सौन्दर्य के रचयिता कवि हैं। उनके अनुसार जो अन्याय और विषमता को ठोकर मारते हैं और समता एवं न्याय के गीत गाते हैं, ऐसे विचार ही सुंदर और श्रेष्ठ होते हैं।

श्रेय होगा मनुज का समता विधायक ज्ञान !
स्नेह-सिंचित न्याय पर विश्व का निर्माण।[8]

कुरुक्षेत्र में दिनकर का वैचारिक उत्कर्ष देखने को मिलता है। इसमें वे अपने समय के सवालों, समता-विषमता, न्याय- अन्याय आदि अनेक द्वंद्वात्मक स्थितियों से टकराते हैं। वैचारिक सौन्दर्यमें वृद्धि के लिए युधिष्ठिर, भीष्म, कर्ण आदि का प्रतीकात्मक प्रयोग करते हैं। दिनकर इतिहास से अनुप्रेरित होकर शौर्य, साहस, संघर्ष, त्याग और बलिदान जैसे मूल्यों को रोपित करते हैं।

दिनकर की भाषा सरल, सहज और प्रभावशाली है। उन्होंने आम जनमानस की भावनाओं को व्यक्त करने के लिए हिंदी के सरस रूपों का प्रयोग किया है। उनकी काव्य रचनाएं ओजस्विता, छंदबद्धता और आलंकारिकता से भरपूर हैं। दिनकर की काव्य शैली ओजस्वी और प्रेरणादायक है। उनकी कविताओं में सामाजिक, राजनीतिक मुद्दों को अभिव्यक्त करने के लिए सरल और सशक्त भाषा का प्रयोग हुआ है, जो आम जनता के दिलों तक पहुंचती है। इसप्रकार दिनकर का साहित्य अन्याय और असमानता के खिलाफ खड़े होने के लिए अपने पाठक के भीतर साहस और दृढ़ता का संचार करता है। अन्याय का प्रतिरोध केवल एक अधिकार नहीं, बल्कि एक नैतिक जिम्मेदारी भी है। दिनकर की कविताओं में प्रतिरोध केवल विचार नहीं, बल्कि एक आंदोलन बनकर उभरता है। वस्तुतः दिनकर का मुख्य ध्येय यह था कि राजनैतिक और सामाजिक लोकतंत्र के सशक्तिकरण के बिना भारत की वास्तविक प्रगति नहीं हो सकती है।"

सन्दर्भ

1. बनास जन, संपादक पल्लव, अंक -44, जून 2021, पृष्ठ- 146 .
2. तदैव पृष्ठ -149
3. ठाकुर, खगेन्द्र, रामधारी सिंह दिनकर :व्यक्तित्व और कृतित्व, प्रकाशन विभाग, नई दिल्ली:2014, पृष्ठ -63
4. तदैव पृष्ठ-66
5. तदैव पृष्ठ- 77
6. बनास जन, संपादक पल्लव, अंक -44, जून 2021, पृष्ठ- 146 .
7. तदैव पृष्ठ-71
8. तदैव पृष्ठ- 73
9. गवेषणा, संपादक प्रो नन्दकिशोर पाण्डेय, केन्द्रीय हिंदी संस्थान आगरा, अंक-109, मार्च -2017
10. नंदकिशोर नवल -दिनकर, अर्ध नारीश्वर कवि -राजकमल प्रकाशन 2013
11. रामधारी सिंह दिनकर -कविता की पुकार, वाणी प्रकाशन 2017

असिस्टेंट प्रोफेसर, भारतीय भाषा केंद्र
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय नई दिल्ली

कल्पना-तत्त्व की दृष्टि से 'उर्वशी' खंडकाव्य का विवेचन

— डॉ. अनिरुद्ध बायन

साहित्य या अन्य ललित कलाएं ही नहीं जीवनोपयोगी किसी भी वस्तु के निर्माण का आधार कल्पना है। कल्पना मनुष्य की आंतरिक शक्ति है और इसका काम किसी भौतिक वस्तु का नवीन रूप गठन करना या किसी अमूर्त तत्त्व को साकार करना है। डॉ. राम कुमार वर्मा का मानना है कि कल्पना साहित्य की सृजन-शक्ति है जिस प्रकार ब्रह्म माया के माध्यम से अखिल विश्व की सृष्टि करता है उसी प्रकार प्रतिभा-सम्पन्न कवि या लेखक कल्पना के सहारे साहित्य में सौन्दर्य की सृष्टि करता है। डॉ. शान्तिस्वरूप गुप्त की दृष्टि में कल्पना कवि की वह मानसिक शक्ति है, जिसके द्वारा वह किसी वस्तु, भाव-विचार को एक सुन्दर दृष्टि से देखता है और फिर उसे इस प्रकार कलात्मक एवं सुन्दर रूप में प्रस्तुत करता है कि वह अभिव्यक्ति हमारी चेतना के शाश्वत और नित्य अंश को अनुप्रेरित करती है। विभिन्न विद्वानों के कथन के आधार पर कल्पना के तीन भेद मान सकते है - स्मृति निर्भर कल्पना, स्मृत्याभात्या कल्पना और प्रत्यभिज्ञाश्रित कल्पना। स्मृति-निर्भर कल्पना वह होती है, जिसका आधार कोई स्मृति होती है। स्मृत्याभास कल्पना वह होती है, जिसमें स्मृति का आभास होता है। प्रत्यभिज्ञाश्रित कल्पना में कल्पना का आधार प्रत्यभिज्ञा होती है।

इस आलेख में मैं कल्पना के इन्हीं तीन रूपों के अनुसार दिनकर के उर्वशी खंडकाव्य पर चर्चा करने जा रहा हूँ। उर्वशी रामधारी सिंह 'दिनकर' का महत्त्वपूर्ण खंडकाव्य है, जिसमें उन्होंने पौराणिक कथाओं के माध्यम से मानवीय प्रेम, सौंदर्य और कल्पना का अद्भुत चित्रण किया है। उर्वशी में सबसे अधिक स्मृति पर आधारित कल्पना और सृजनात्मक कल्पना का उपयोग मिलता है। जब कोई बात स्मृति के आधार पर कही जाती है और वह वक्ता के मन्तव्य को पूरी तरह व्यक्त करने में

समर्थ होती है तो वहाँ स्मृत्याभास कल्पना की सत्ता होती है। यह कल्पना स्मृति पर आश्रित होती है। उर्वशी में तीन पात्रों द्वारा इस कल्पना का उपयोग किया गया है - चित्रलेखा, निपुणिका और सुकन्या। पुरुरवा ने असुर द्वारा अपहरण किये जाने से उर्वशी को बचाया। उर्वशी राजा के पराक्रम और रूप से प्रभावित होकर प्रेमासक्त हो जाती है। पुरुरवा भी अप्रभावित नहीं रहता। वह भी उर्वशी के प्रेम में पड़ जाता है। उर्वशी के प्रेम-प्रसंग की चर्चा के समय मेनका जानना चाहती है कि उर्वशी ही प्यार में पड़ी है या राजा के मन में भी उसके लिए प्रेम है? इसी के उत्तर में चित्रलेखा राजा के प्रेमोद्गार को अपनी स्मृति के आधार पर पुनःप्रस्तुत करती है। मेनका कहती है-

तड़प रही उर्वशी स्वर्ग तज कर जिसको वरने को
प्रस्तुत है वह भी क्या उसका आलिंगन करने को।

इस पर चित्रलेखा कहती है -

धुँआ नहीं, ज्वाला देखी है, ताप उभयदिक सम है,
जो अमर्त्य की आग, मर्त्य की जलन न उससे कम है।
छिपकर सुना एक दिन कहते स्वयं उन्हें निज मन से,
«वृथा लौट आया उस दिन उज्ज्वल मेघो के वन से।
नहीं, उर्वशी नारि नहीं, आभा है निखिल भुवन की,
रूप नहीं निष्कलुष कल्पना है स्रष्टा के मन की।

उर्वशी के इस सौन्दर्य बिम्ब में कल्पना का भरपूर प्रयोग है। उसकी कान्ति का यह आह्लादक वर्णन दिनकर जी की कल्पना का उत्कर्ष है। स्रष्टा अर्थात् कवि के मन की कल्पना के रूप में तथा कला द्वारा देखे जाने वाले सौन्दर्य स्वप्न के रूप में उर्वशी के सौन्दर्य को प्रस्तुत करना उदात्त कल्पना का परिचायक है। अतः यहाँ चित्रलेखा के माध्यम से रूप-रचना की प्रस्तुति में स्मृत्याभास कल्पना की अनन्त उत्कृष्ट अभिव्यक्ति है।

दूसरी नारी है निपुणिका, उसने छिपकर उर्वशी-पुरुरवा के प्रथम मिलन को देखा है तथा राजा के प्रेम को देखा है। औशीनरी के द्वारा पूछे जाने पर वह भी अपनी स्मृति के आधार पर उस दृश्य को पुनः प्रस्तुत करती है, जो इस प्रकार है -

महाराज ने देख उर्वशी को अधीर अकुलाकर,
बाँहों में भर लिया और गोदी में उसे उठाकर
समा गयी उस बीच अप्सरा सुख संभार नता-सी,

दिनकर जी ने अत्यन्त कौशलता के साथ निपुणिका की स्मृतिजन्य कल्पना में पुरुरवा के साथ स्मृत्याभास कल्पना को मिला कर इसे दुहरा रूप दे दिया है। पुरुरवा जब उर्वशी का ध्यान धरते थे यानि उसके रूप को याद करते थे उन्हें कैसा अनुभव होता था। धरते तेरा ध्यान के कारण वहाँ स्मृत्याभास कल्पना का प्रयोग है। पंक्तियाँ इस प्रकार हैं-

धरते तेरा ध्यान चाँदनी मन में छा जाती थी,
चुम्बन की कल्पना अंग में सिहरन उपजाती थी।

उनकी इस स्मृतिजन्य कल्पना को निपुणिका पुनः प्रस्तुत करती है और यथावत् रूप में। अतः यहाँ स्मृति का दुहरा प्रयोग महत्त्वपूर्ण है। स्मृत्याभास कल्पना का तीसरा रूप हमें सुकन्या के कथन में प्राप्त होता है। जहाँ वह स्मृति के सहारे च्यवन ऋषि और उनके बीच घटित घटना का वर्णन चित्रलेखा के समक्ष करती है। चित्रलेखा उससे पूछती है जब तुम्हारे स्पर्श से च्यवन ऋषि खंडित समाधि से जाग उठे और कुपित दृष्टि से देखा तो तुम डरी नहीं, इसके उतर में सुकन्या उस घटना का वर्णन चित्रलेखा से करती हुई बताती है कि-

डरी नहीं मैं? हाय चित्रलेखे!
कौतुहल से ही मैने तनिक पलक खींची थी
ध्यानमग्न मुनिवर की

लेकिन ऋषि के नेत्रों से निकली अग्नि शमित होने लगी। सुकन्या के सिर से मौत लौट गयी। ऋषि के ज्वलित नेत्र संभवतः नारी-रूप के प्रभाव से शीतल होने लगे। सुकन्या आगे कहती है-

पर मैं जली नहीं तत्क्षण पावक ऋषि के नयनों का
परिणत होने लगा स्वयं शीतल मधु की ज्वाला में
मानो प्रमुदित अनल- ज्वाल जावक में बदल रहा हो।

और इस परिवर्तन का प्रभाव यह हुआ कि ऋषि के मुख पर मुस्कान की आभा आ गयी। सुकन्या लज्जा से सुगबुगा उठी और इस बात के लिए मन को तैयार करने लगी कि देखें अब आगे क्या होता है उसे ऋषि की वाणी इस रूप में सुनाई पड़ी :-

सौम्ये! हो कल्याण, कहाँ से इस वन में आयी हो?
सुर कुल की शुचि प्रभा या कि मानव कुल की तनया हो?
कहाँ मिला यह रूप देखते ही जिसको पावक की दाहकता मिट गयी,

और फिर ऋषिवर का तप-लक्ष्य पता नहीं कहाँ छूट गया। उनके भीतर का मानव आगे आ गया सुप्त और उपेक्षित काम-चेतना सुगबुगा उठी और उन्होंने प्रस्ताव कर दिया -

वरण करोगी मुझे ? तुम्हारे लिए जरा को तजकर शुभे!

च्यवन के इस प्रस्ताव पर सुकन्या की जो प्रतिक्रिया हुई उसका वर्णन करती हुई वह कहती है -

चित्रे! मैं भर गयी न जाने किस अपार महिमा से?
प्रथम प्रथम ही उठा जाग नारीत्व विभासित होकर

इस पूरे प्रसंग में कल्पना द्वारा जो बिम्ब बनता है वह तप पर काम की महिमा को प्रतिष्ठित करता है। यह काम-विधान उर्वशी काव्य का केन्द्रीय विषय है अतः विषय सिद्धि में इस स्मृत्याभास कल्पना का महत्त्व है।

धरती पर कहीं खड़े होकर हम अवलोकन करते हैं तब चारों तरफ गोलाकार रूप में आकाश धरती से मिलता हुआ दृष्टिगत होता है। उस मिलन-बिन्दु को क्षितिज कहा जाता है। इस मिलन का कारण भौगोलिक है और वह है धरती का रूप गोल होना। दिनकर जी ने इस मिलन-बिन्दु की कल्पना आलिंगन-रूप में की है। वे कल्पना करते हैं कि आकाश झुक कर धरती को अपने आलिंगन में बांधे हुए है। वे इसका वर्णन करते हुए लिखते हैं :-

सारी देह समेट निविड़ आलिंगन में भरने को
गगन खोलकर बाँह विसुध वसुधा पर झुका हुआ है।

यहाँ यथार्थ प्राकृतिक स्थिति में कल्पना के द्वारा आलिंगन का चित्र अंकित किया गया है। अतः यह यथार्थ पर आधारित कल्पना है, यह इस दृष्टि से अत्यन्त अर्थवान है कि इसके द्वारा उर्वशी काव्य में प्रतिपादित मुख्य विषय की पूर्व पीठिका प्रस्तुत की गयी है।

उर्वशी के तृतीय अंक में रात्रि का विराट और प्रशान्त रूप चित्रित करने के लिए उसे एक साम्राज्ञी का रूप दिया गया है। इस विराट बिम्ब को साकार करने के लिए कवि ने पुनर्निर्माण करनेवाली कल्पना का उपयोग किया है। इसमें केवल रानी के गर्वमय ज्योति-विहार का वर्णन ही नहीं है। इसमें कवि की कल्पना किसी गीत के स्वर सुनता है और उसका स्रोत भी तलाशने का प्रयास करता है। यह सारा चित्र एक भव्य और उदात्त कल्पना का प्रसाद अनुभव होता है-

कौमुदी या कि तारे गुनगुन गाते हैं
दृश्य श्रव्य बनकर अथवा श्रुतियों में समा रहा है?
गूँज रही निस्तब्ध निशा में निकल विकल गहर से?

यह पूरा बिम्ब रात्रि पर आधारित है लेकिन इसमें तिमिर में प्रकाश की अनुभूति, निस्तब्धता में किसी गीत की गुनगुनाहट, सुन्दरता की रागिनी का स्वर या किसी पुरातन कवि की चिर विस्मृत कविता की गूँज अनुभव करना और पाठकों को कराना कवि की रचनात्मक कल्पना-क्षमता का प्रभाव है। निस्तब्धता में स्वर सुनना और उस स्वर के अनेक स्त्रोतों का अनुमान कल्पना के बल पर किया गया है। यह विम्व सृजनात्मक कल्पना पर आधारित है।

हम जानते हैं कि काल अनन्त है। इस अनन्तता को मनुष्य की बुद्धि ने अपनी सुविधा और व्यावहारिकता के लिए एक तो भूत, वर्तमान और भविष्यत में बाँटा है। दूसरे, गणना का हिसाब रखने के लिए शताब्दी वर्ष, माह, दिन, पल आदि में बाँटा है। उन सबकी सत्ता महाकाल के विराट अस्तित्त्व में कहा है। दिनकर जी ने इसे स्पष्ट करने के लिए कल्पना के सहारे एक विम्ब खड़ा किया है। शहर या देहात में हम किसी वृक्ष में ब्रह्म का आरोप कर लेते हैं और उसमें अपनी मनोकामना व्यक्त करने के रूप में या मनोकामना की पूर्ति के स्मारक रूप में धागा लपेट देते हैं या लत्ता लटका देते हैं। इस लोकबिम्ब से प्रेरणा लेकर कवि ने लिखा है –

अतल अनादि अनन्त पूर्ण वृहित अपार अम्बर में सीमा खींचे कहाँ?
निमिष, पल, दिवस, मास, संवत्सर महाकाल में
टँगे काल के लत्तक से लगते हैं।

इस बिम्ब में वृक्ष की जगह महाकाल शब्द का प्रयोग किया गया है, जिसमें निमिष, पल, दिवस, मास और संवत लत्ते की तरह टंगे हैं। अथवा, समय उस पत्रक की तरह है, जिस पर क्षण, मुहूर्त, संवत यानि वर्ष और सौ वर्ष की सत्ता बूँदों की भाँति तुच्छ और नगण्य है। इसके माध्यम से कवि यह कहना चाहता है कि निरवधि महाकाल में हमारे द्वारा बनाये गये कालखंडों की सत्ता लत्ते की तरह या बूँदों की तरह तुच्छ और नगण्य है। यहाँ कवि ने महाकाल की विराटता का बोध कल्पना के सहारे कराया है।

दिनकर जी ने स्थूल मूर्ति में कामावेग की सत्ता भर कर एक बिम्ब की रचना की है, जिससे चेतन ही नहीं जड़ के काम-तत्त्व की सत्ता को स्थान मिला है। जड़

में काम-कल्पना एक नयी सूझ है। अजन्ता और एलोरा की गुफाओं में प्राप्त नारी-मूर्तियों का स्वरूप इतना सुडौल, पुष्ट और प्रभावशाली है कि देखने वाले को लगता है कि ठीक मूर्ति के आकार-प्रकार की नारी तुरंत इस मूर्ति को फाड़कर उसी प्रकार बाहर आ जायेगी, जैसे - खंभे को फाड़कर नरसिंह-रूप विष्णु प्रकट हो गये थे। इस भाव को अपनी कल्पना से साकार होने में दिनकर जी ने कुछ विशेषणों का सफल प्रयोग किया है। यह एक अद्भुत बिम्ब है, जो दिनकर जी की कल्पना-शक्ति की उर्वरता का प्रमाण है उर्वशी कहती है :-

पाषाणों के अनगढ़ अंगों को काट-छाँट मैं ही निविड़स्तनता मुष्टिमध्यमा,
मदिरलोचना, कामलुलिता नारी प्रस्तरावरण कर भंग

यहाँ कवि कल्पना करता है कि सुगढ़ नारी-मूर्तियों में जो यौवन-सौन्दर्य और कामुकता की व्यंजना होती है उसके मूल में उर्वशी ही है। यानि हर नारी-मूर्ति उर्वशी की सौन्दर्य-मूर्ति है, कामोत्तेजक प्रतिमा है, कामाकर्षक मूर्ति है।

दिनकर जी ने उर्वशी की सत्ता को भौतिक से अभौतिक बनाने के क्रम में अनेक मूर्त-अमूर्त तत्त्वों का सहारा लिया है। मूर्ति को अमूर्त और सर्वव्यापी बनाने का उनका प्रयत्न उनकी और सृजनात्मक कल्पना का प्रसाद है। इस दृष्टि से एक दो स्थल द्रष्टव्य हैं। उर्वशी अपने को नाम गोत्र से रहित सौन्दर्य-चतेना की तरंग मानते हुए कहती है :-

मैं नाम गोत्र से रहित पुष्प अम्बर में उड़ती हुइ मुक्त आनन्द शिखा
इतिवृत्त हीन सौन्दर्य-चेतना की तरंग सुर-नर किन्नर गंधर्व नहीं प्रिय!

इस बिम्ब में उर्वशी की कल्पना अम्बर में उड़ते हुए पुष्प से की गयी है तथा उसे विश्व नर के इच्छा-सागर से उत्पन्न माना गया है।

दिनकर जी की उर्वशी अपने को सागर से उत्पन्न नहीं मानती यानि दिनकर जी उस पुराण प्रसिद्ध धारणा का खंडन करते हैं। जिसमें उसे समुद्र से उद्भूत माना गया है। वे कल्पना के सहारे एक विराट बिम्ब रचते हैं। उर्वशी कहती है :-

मैं नहीं सिन्धु की सुता तलातल, अतल-वितल-पाताल छोड़
नीले समुद्र को फोड़, शुभ्र झलमल फेनाशुक में प्रदीप्त नाचती
ऊर्मियों के सिर पर मैं नहीं महातल से निकली।"

लेकिन उनका पुरुरवा इस तथ्य को स्वीकार नहीं कर पाता। वह अभी भी इस कल्पना में खोया है कि जब उर्वशी समुद्र तल से निकल कर बाहर आयी होगी तो

समुद्र-मंथन के फलस्वरूप में उसकी जैसी रूपवती को पाकर देवलोक में देवताओं ने कितना हर्ष मनाया होगा?

रुदन किया होगा कितना अंबुधि ने तुम्हें गँवाकर ?
और प्राप्त कर रक्त मांसमय इस अप्रतिम कुसुम को
कितना हर्ष निनाद हुआ होगा देवों के जग में !

दिनकर जी उर्वशी को न केवल अनन्त सौन्दर्य का प्रतीक मानते हैं अपित अनन्त कल्पना भी मानते हैं। वे लिखते हैं :-

तुम अनन्त सौन्दर्य एक तन में बस जाने पर भी
निखिल सृष्टि में फैल चतुर्दिक कैसे व्याप्त रही हो?
तुम अनन्त कल्पना अंक चाहे जिस भाँति भरूँ मैं
एक किरण तब भी बाँहों से बाहर रह जाती है।"

दिनकर जी की उर्वशी वेद और पुराण में वर्णित उर्वशी नहीं है। वह उनकी ऊर्जावान कल्पना-शक्ति से उद्भूत है। वह सौन्दर्य-चेतना की तरंग है। त्रिलोक और त्रिकाल में व्याप्त सौन्दर्य की अव्यक्त सत्ता का मूर्त रूप है। दिनकर जी उसे लौकिक से उठाकर अलौकिक बना देते हैं। वह स्वयं समग्र सौन्दर्य की अव्यक्त सत्ता है, जो प्रत्येक काल में प्रत्येक देश में जन्म लेने वाली रूपसी नारी के रूप में साकार होती है। एक सीमा तक वह विश्वरूपा है, परमात्मा है और सौन्दर्य के सारे स्त्रोत उसी से निःसृत होते हैं। यह उर्वशी दिनकर जी की कल्पना की उर्वशी है। अर्थात् उर्वशी काव्य की उर्वशी दिनकर जी की उस कल्पना की उर्वशी है, जिसको साकार करने की कामना उनके मन में थी। इस कल्पना को साकार करने के लिए उन्होंने प्रकृति में भी उसी की छवि को आसमान बताया है। उर्वशी का निम्न कथन इसका प्रमाण है :-

मैं अदेह कल्पना, मुझे तुम देह मान बैठ हो
मैं अदृश्य तुम दृश्य देखकर मुझको समझ रहे हो
कब था ऐसा समय कि जब मेरा अस्तित्त्व नहीं था?
कब आयेगा वह भविष्य जिस दिन मैं नहीं रहूँगी ?

मैं कहना चाहता हूँ कि उर्वशी का आचार यद्यपि वेद एवं पुराण वर्णित कथा है लेकिन दिनकर जी ने अपनी उर्वर कल्पना के द्वारा उसे न केवल नया रूप दिया है अपितु विराट सौन्दर्य-चेतना का मूर्त रूप बताकर अपनी रचनात्मक क्षमता को प्रदर्शित किया है।

उर्वशी का प्रथम, चतुर्थ एवं पंचम अंक घटना-व्यापार से जुड़ा है। अतः उनमें कथा-तत्त्व और क्रिया-व्यापार की प्रधानता है। प्रथम अंक के प्रकृति वर्णन में कल्पना का थोड़ा उपयोग हुआ है। द्वितीय अंक में उपेक्षिता रानी औशीनरी की व्यथा प्रधान हे तो चतुर्थ अंक में सुकन्या की पूर्व कथा की चर्चा है। इसके साथ सुकन्या मानवी होने के कारण चित्रलेखा को यौवन और सौन्दर्य रहते किसी एक मनोनुकूल पुरुष का वरण कर लेने की सलाह देती है। इसे चित्रलेखा का अप्सरा चरित्र इसे व्यर्थ की सलाह मानती है। इस तरह केवल तृतीय अंक ही ऐसा है जिसमें कल्पना का प्रकर्ष दिखायी पड़ता है। इस पूरे अंक में एक ही धारा बह रही है। पुरुरवा निरन्तर अपने संवादों में दो ही बातें करता है। प्रथम अनासक्ति, ईश्वर, राग-विराग आदि के द्वारा देह-सीमा से बाहर जीवन का सत्य खोजता है। द्वितीय उर्वशी के रूप-यौवन आदि को देशकाल से मुक्त अनन्त सौन्दर्य की दीपशिखा कहकर उसकी प्रशंसा करता है। उर्वशी अपने संवादों से बार-बार उसे कल्पना में विचरने और दर्शन की भाषा बोलने से रोककर भौतिक रूपाकर्षण और यौवन का सुख भोगने के लिए अपनी बाँहों में समेट लेती है। लेकिन अंत में वह भी अपने को नाम-गोत्र से रहित अम्बर में उड़ते पुष्प के रूप में मान लेती है।

“उर्वशी” को कल्पना-प्रधान काव्य कहा जा सकता है, क्योंकि इसमें पौराणिक नायिका उर्वशी और पुरुरवा के प्रेम संबंध को अतिसंवेदनशीलता और कल्पना के धरातल पर प्रस्तुत किया गया है। दिनकर ने “ऋग्वेद” और महाभारत में वर्णित उर्वशी और पुरुरवा की कथा को अपने काव्य का आधार बनाया है। हालाँकि, उन्होंने इसे केवल ऐतिहासिक या पौराणिक कथा के रूप में न प्रस्तुत करके इसे आधुनिक संदर्भों में प्रेम और सौंदर्य का रूपक बना दिया। उर्वशी स्वर्ग की अप्सरा है, जो अपनी दिव्यता और स्वर्गीय सौंदर्य के साथ कल्पना के धरातल पर आती है। “उर्वशी” में प्रेम केवल भौतिक आकर्षण तक सीमित नहीं है, बल्कि यह आत्मा और चेतना की पराकाष्ठा का प्रतीक है। पुरुरवा और उर्वशी का प्रेम नश्वर और अमरता के बीच का संघर्ष है। यहाँ उर्वशी के सौंदर्य और प्रेम की कल्पना दिव्यता और आदर्शवाद से भरी है। दिनकर ने प्राकृतिक चित्रण में अपनी कल्पनाशीलता का अद्भुत प्रदर्शन किया है। उर्वशी के सौंदर्य को प्रकृति के विभिन्न रूपों के माध्यम से व्यक्त किया गया है। “रजनी के चंद्रमंडल से छिटकी चाँदनी के समान” उर्वशी का वर्णन उसकी अलौकिक सुंदरता को रेखांकित करता है। नदी, पहाड़, आकाश, और

पृथ्वी के चित्रण में काव्यात्मक कल्पना दृष्टिगोचर होती है। दिनकर ने उर्वशी को केवल एक दिव्य अप्सरा के रूप में नहीं, बल्कि एक भावनात्मक और संवेदनशील नारी के रूप में प्रस्तुत किया है। कल्पना का तत्त्व इस रूप में स्पष्ट है कि उर्वशी, जो स्वर्ग से धरती पर आती है, प्रेम की दिव्यता को मानवीय अनुभवों के साथ जोड़ती है। दिनकर ने उर्वशी के माध्यम से सौंदर्य और कामना के तत्वों को उच्च धरातल पर पहुँचाया है। उर्वशी का सौंदर्य मानव कल्पना की सीमा को लांघकर एक दैवीय अनुभव प्रदान करता है। कामना को केवल भौतिक आकर्षण न मानकर जीवन की मूल प्रेरणा और सृजन के स्रोत के रूप में चित्रित किया गया है। उर्वशी अमर है, जबकि पुरुरवा नश्वर है। यह द्वंद्व प्रेम और जीवन के गहन रहस्यों को उजागर करता है। इस संघर्ष का चित्रण कल्पना के माध्यम से प्रेम की गहनता और उसके आदर्श स्वरूप को प्रकट करता है। "उर्वशी" केवल प्रेम-कथा नहीं है; इसमें दार्शनिक और आध्यात्मिक आयाम भी हैं। प्रेम को जीवन के अर्थ और अस्तित्व के दर्शन के रूप में प्रस्तुत करना, दिनकर की कल्पना-शक्ति का परिणाम है।

संदर्भ

1. रामधारी सिंह दिनकर, उर्वशी, लोकभारती प्रकाशन, 2020

असिस्टेंट प्रोफेसर, हिंदी विभाग
मध्यकामरूप महाविद्यालय, बरपेटा, असम

दिनकर का सनातन दर्शन

— डॉ. ध्रुव कुमार

यह प्रश्न प्रायः उठता है कि सनातन का दर्शन आखिर क्या है, और हिंदू होने के साथ कौन-कौन से गुण एक हिंदू के अंदर समाज के माध्यम से आते हैं, जिस वजह से वे साम्राज्यवादी शक्तियों के निशाने पर रहते हैं? जब मैं इन प्रश्नों का उत्तर ढूँढ़ने की कोशिश करता हूं, तो मेरा सामना कई विचारकों से होता है। स्वयं के प्रश्नों का उत्तर ढूँढ़ते हुए मुझे किसी भी पंथ या पूर्वग्रह से परे ऐसे विचारकों को पढ़ने का अवसर मिला, जिनके विचारों ने समाज पर व्यापक प्रभाव डाला। यदुनाथ सरकार, सीताराम गोयल, राम मनोहर लोहिया, रमेश चंद्र मजूमदार व रामधारी सिंह दिनकर जैसे अनेक विचारकों के सनातन दर्शन को पढ़ने के बाद मैं इस निष्कर्ष पर पहुंचा, कि सनातन कोई साधारण विचार या दर्शन नहीं, अपितु यह स्वयं एक जीवन-दृष्टि है। एक ऐसी जीवन शैली जो समावेशिता को प्रदर्शित करती है। एक ऐसी जीवन शैली जो सहिष्णुता, उदारता व धर्मनिरपेक्षता जैसे नैतिक मूल्यों को प्रोत्साहित करती है।

अपने अध्ययन के दौरान राष्ट्रकवि रामधारी सिंह दिनकर जी के सनातन दर्शन से मैं काफी प्रभावित हुआ। इस आलेख में मैं अपनी सीमित समझ के अनुसार दिनकर के सनातन दर्शन पर कुछ बातें साझा करूँगा। हममें से अधिकांश लोग दिनकर को उनके ओज, विद्रोह, आक्रोश और क्रांति का आह्वान करने वाली कविताओं के लिए जानते हैं। एक तरफ उन्होंने अपने उत्तेजक और गर्जन से भारी रचनाओं के साथ हिंदी साहित्य को समृद्ध किया, तो वहीं दूसरी तरफ दिनकर को एक गहरे चिंतक के रूप में भी देखा जाता है। संस्कृति के चार अध्याय, हमारी सांस्कृतिक एकता, भारत की सांस्कृतिक कहानी, अर्धनारीश्वर, धर्म नैतिकता व

विज्ञान, भारतीय एकता तथा हे राम जैसी उनकी अनेक गद्य कृतियों ने एक गहरे चिंतक के रूप में उनके पक्ष को उजागर किया।

उनका अधिकांश चिंतन भारतीय सभ्यता संस्कृति और विशेष रूप से हिंदू धर्म पर केंद्रित रहा। राष्ट्रकवि के रूप में उनका जो कद है, उसे देखते हुए उनके दर्शन को नकार पाना व उनकी अनदेखी कर पाना असंभव है। जब हम सनातन संस्कृति पर दिनकर के विचारों का अध्ययन करते हैं तो हम यह पाते हैं कि तथाकथित अब्राहमिक धर्मों के द्वारा हिंदू धर्म पर जो लांछन व आरोप लगाए जाते हैं, उसको लेकर दिनकर ने हमेशा अपने स्वर तीखे रखे।

दिनकर का सनातन दर्शन मुख्य रूप से लौकिकता पर केंद्रित रहा। उन्होंने दुनियावी मूल्यों को पारलौकिक मूल्यों पर प्राथमिकता दी। दिनकर की एक पुस्तक (मेरी यात्राएँ) में उन्होंने "लौकिकता व हिन्दू धर्म" के नाम से एक आलेख लिखा जो आगे चलकर 'चिंतन के आयाम' पुस्तक में भी संकलित और प्रकाशित हुआ। इस आलेख में दिनकर ने सनातन व सनातन के दर्शन पर प्रकाश डाला है। दिनकर सनातन को लोक का धर्म मानते हैं। दुनिया के अधिकांश धर्म के विपरीत हिंदू दर्शन लौकिकता पर ज्यादा ध्यान केंद्रित करता है। यद्यपि उत्तर वैदिक काल के पश्चात हिंदू धर्म में भी स्वर्ग और नर्क जैसी अवधारणाएँ सामने आई हैं, तथापि यदि बृहद परिप्रेक्ष्य में देखें तो हिंदू दर्शन लौकिक कार्यों पर स्वयं को ज्यादा केंद्रित रखता है।

इसका एक उदाहरण हमें ऋग्वेद में देखने को मिलता है। ऋग्वेद में संसार से भागने की शिक्षा नहीं मिलती। ऋषिगण भगवान से यह नहीं माँगते कि 'हे भगवान, हमें संन्यास और वैराग्य दो।' बल्कि वे यह माँगते हैं कि 'हे इन्द्र ! हमारे घोड़ों को पुष्ट बनाओ, हमारी सन्ततियों को ताकत दो, हमारे शत्रुओं का बल घटाओ।'[1] वैदिक ऋषि नरक की भी कल्पना नहीं करते थे। उनका खयाल था कि बलवान मनुष्य जैसे पृथ्वी पर पुण्य से जीकर सुख भोगता है, उसी तरह मरने के बाद भी वह ऐश्वर्यों का भोग करता है।

दिनकर का यह विचार है, कि सनातन संस्कृति पलायनवादी नहीं है। बल्कि यह स्थितियों का सामना करने वाली व संघर्षों से जूझने वाली संस्कृति है। दिनकर ने ऋग्वेद से आगे वाल्मीकि रामायण और महाभारत जैसे धार्मिक ग्रंथों के भी उदाहरण दिये हैं। गीता के उपदेश के दौरान भगवान श्री कृष्ण और अर्जुन के बीच के संवाद में भी श्री कृष्ण ने अर्जुन को स्थितियों का सामना करने की ही शिक्षा दी।

सगे-संबंधियों व परिजनों को अपने सामने देखकर हताश हो चुके अर्जुन को श्री कृष्ण ने उपदेशात्मक तरीके से कहा-

हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा मोक्षसे महीम्।
तस्मात् उत्तिष्ठ कौन्तेय, युद्धाय कृतनिश्चयः।

सनातन संस्कृति में ऐसे उदाहरण अनेक युगों व ग्रंथों में देखने को मिलते हैं। इन्हीं की प्रेरणा से हिंदू धर्म में एक ऐसी जीवन शैली का विकास हुआ, जिसने कर्म को प्रधानता दी। एक ऐसी जीवन शायरी जिसे इस विचार का समर्थन किया कि संघर्ष का मुकाबला किए बिना संसार में सुख प्राप्त नहीं किया जा सकता। दिनकर के अनुसार सनातन संस्कृति कर्म योग को प्राथमिकता देती है। इस कर्मयोग में युद्ध का भी बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान है। युद्ध चाहे बाहरी हो या आंतरिक।[2]

इसलिए जब हम इतिहास का अवलोकन करते हैं, तो हमें आर्यों के प्राचीन साहित्य में शूरता, साहस व संघर्ष की अनेक कहानियाँ पढ़ने को मिलती हैं। हालांकि दिनकर ने इस बात का भी उल्लेख किया है कि एक समय पर गृहस्थ आश्रम को प्रधानता देने वाली हमारी संस्कृति, कुछ अन्य विचारों के प्रभाव में संन्यास की ओर भी उन्मुख हुई।

जहाँ ऋग्वैदिक काल में गृहस्थ आश्रम और जीवन के संघर्षों को प्राथमिकता दी गई, वही उत्तर वैदिक काल में बौद्ध और जैन धर्म के प्रभाव में जाकर लोगों में सन्यास की भी आवृत्ति बढ़ी। दिनकर लिखते हैं कि भगवान महावीर और भगवान बुद्ध के उपदेशों से समाज में निवृत्ति की भावना बहुत अधिक बढ़ गई। आर्यों का जो समुदाय पहले धर्म साधना के लिए भी गृहस्थ का त्याग करने को तैयार नहीं था वह भी इन उपदेशों के प्रभाव में आकर संन्यास लेने की और उन्मुख हुआ। तत्कालीन समाज में भगवान महावीर और भगवान बुद्ध का जो स्थान था उसने सनातन के दर्शन पर भी अपना पर्याप्त प्रभाव डाला। जो सनातन मतावलंबी गृहस्थ आश्रम तथा कर्म योग को प्रधान मानते थे, वे भी यह मानने लगे कि मुनि और भिक्षु हुए बिना मनुष्य को मोक्ष नहीं मिल सकता।[3]

इन दोनों महात्माओं के उपदेशों के उपरांत हिन्दू दर्शन में वैराग्य का जो प्रचलन हुआ, उस भावना पर समय-समय पर कई महापुरुषों के द्वारा चोट की गई। दिनकर का मानना है कि हिंदू समाज में उत्पन्न हुई वैराग्य की भावना पर सबसे कठोर प्रहार गुरु गोविंद सिंह जी ने किया।[4] गुरु गोविन्द सिंह यह देखकर घोर निराशा हुई थी,

कि हिन्दू - जाति परलोक की आराधना में फँसकर लोक को गँवा बैठी है। वे चाहते थे कि हिन्दू तलवार और संघर्ष की महिमा को समझें और अपना हक और अपनी इज्जत बचाने के लिए मरने-मारने को तैयार रहें। अतएव उन्होंने हिन्दुओं के भीतर वीरता जगाने के लिए भगवान का नाम असिध्वज और महालौह रख दिया।

असिध्वज उसे कहते हैं, जिसके झंडे पर तलवार का निशान हो, जबकि महालौह का अर्थ लौह पुरुष होता है। गुरु गोविन्द सिंह भगवान को इसी रूप में भजते थे।

जो हो सदा हमारे पच्छा,
श्री असिधुज जी करिहहु रच्छा।
महाकाल रखवार हमारे,
महालौह, मैं किंकर थारे।

गुरु गोविन्द सिंह जी ने हिन्दू धर्म की जो व्याख्या की थी, दिनकर उसे वैदिक धर्म की ही व्याख्या मानते हैं। मगर गुरु गोविन्द सिंह के इस प्रयास के बावजूद भी हिन्दू धर्म पर आए हुए वैराग्य रूपी पस्ती के बादल नहीं छंटे। यह विडंबना ही है कि जो गीता युद्धक्षेत्र में कही गई थी, उसे लोग संन्यास का ग्रन्थ मानते रहे। जो भी लड़का गीता पढ़ने लगता था, उसके माँ-बाप डरने लगते थे, कि बेटा कहीं संन्यासी न हो जाए।

19वीं सदी में यूरोपियों के आगमन के बाद सनातन संस्कृति के समक्ष अस्तित्व का संकट आ खड़ा हुआ। उस समय हिन्दुओं के अंदर से वैराग्य भाव खत्म करने के लिए स्वामी दयानन्द, स्वामी विवेकानन्द और लोकमान्य बालगंगाधर तिलक जैसे महात्मा सामने आए। स्वामी दयानन्द ने हिन्दुओं को यह समझाया कि सनातन धर्म वेदों पर आधारित है, जो वीरता और संघर्ष की शिक्षा देता है। सनातन संस्कृति में कायरता और वैराग्य के लिए कोई स्थान नहीं है।

हिन्दू चेतना के उस पुनर्जागरण के दौर में बाल गंगाधर तिलक ने भी गीता-रहस्य लिखकर हिन्दुओं को यह बतलाया कि गीता संन्यास की शिक्षा नहीं देती, बल्कि गीता यह सिखलाती है कि संघर्षों से जूझकर आदमी को उन पर विजय प्राप्त करनी चाहिए। यह तिलकजी के गीता-रहस्य का ही सुपरिणाम है, कि अब कोई भी जागरूक भारतवासी गीता को संन्यास की पुस्तक नहीं मानता है। गीता वह ग्रंथ है, जो भारत के क्रान्तिकारियों को भारी प्रेरणा देती थी और जिसके श्लोक पढ़ते हुए सैकड़ों वीर फाँसी के तख्तों पर झूल गए थे। तिलक के ओजपूर्ण गीता-रहस्य के

बारे में श्री दिनकर का यह मानना था कि इस पुस्तक ने सनातन संस्कृति के सबसे महत्त्वपूर्ण ग्रंथों में से एक भगवद गीता को लेकर उपजे संशयों को समाप्त कर दिया। दिनकर कहते हैं कि, गीता रहस्य के पश्चात ही यह विचार बन गया कि गीता का एक आख्यान तो स्वयं भगवान कृष्ण ने किया था, किन्तु दूसरी बार उसका कथन भगवान तिलक ने किया है।[5]

दिनकर आगे कहते हैं कि, तिलक का आख्यान तो मुख्यतः गीता पर केंद्रित रहा, लेकिन वैराग्य के प्रति सनातन समाज की उन्मुखता और गृहस्थ के प्रति उपजी निराशा की कालिमा को धोकर हिन्दू-धर्म को फिर से चमकाने का काम स्वामी विवेकानन्द ने किया। स्वामी विवेकानंद ने हिन्दुओं के मन पर से धर्म की सेवा के लिए वैराग्य लेने वाले बादल को हटाने का कार्य किया। उन्होंने सैकड़ों आख्यान दिये और हिन्दुओं के मन पर से इस भाव को धो-पोंछकर दूर कर दिया कि धर्म की साधना वैयक्तिक मोक्ष के लिए की जाती है। इसके विपरीत लोगों को उन्होंने यह समझाया कि धर्म की असली साधना का मार्ग समाज की सेवा का मार्ग है, राष्ट्र की उन्नति का मार्ग है, संघर्ष में ताल ठोंककर जूझने का मार्ग है।

दिनकर एक स्थान पर किसी घटना का भी जिक्र करते हैं। घटना ऐसी है कि, एक बार एक सज्जन सत्संगति के लिए स्वामीजी के पास गए, लेकिन स्वामीजी उस दिन देश और समाज की ही बातें बोलते रहे। चलते समय उस महाशय ने कहा, "स्वामीजी, आज तो धर्म - चर्चा हुई ही नहीं।" स्वामीजी ने गरजकर कहा, "तुम धर्म-कथा सुनने को आए थे? जब तक भारतवर्ष का एक कुत्ता भी भूखा है, तब तक उसके लिए रोटी जुटाना ही तुम्हारा धर्म होना चाहिए।"

1893 में अमेरिका की अपनी ऐतिहासिक यात्रा से लौटने के बाद मद्रास में स्वामीजी ने गर्जना की थी, "तुम्हारे तैंतीस करोड़ देवता सोए हुए हैं। जगा हुआ एक ही देवता है, जो तुम्हारे सामने खड़ा है। वह देवता भारत माता है, वह देवता भारत की करोड़ - करोड़ जनता है। सोए हुए देवताओं को छोड़कर तुम इस जगे हुए देवता की सेवा में लग जाओ। यही धर्म है। यही परमात्मा की सबसे बड़ी आराधना है।" स्वामीजी धर्मात्मा उसे समझते थे, जिसके भीतर साहस और शक्ति है, दुनिया में कुछ कर गुजरने की धुन है और जो सबको सुखी बनाने के बाद अपना सुख चाहता है।

दिनकर का यह मंतव्य है कि इन महात्माओं के उपदेशों में ही स्नान करके हिन्दू - धर्म बिलकुल नवीन और ताजा हो उठा है। आज का हिन्दू अपने वैयक्तिक मोक्ष

को जीवन का सबसे बड़ा ध्येय नहीं मानता। इस बात में सत्यता भी है। हम अपने आसपास यदि देखें, तो हम पाएँगे कि आज के हिन्दू समाज का सबसे बड़ा ध्येय यह है कि वह समाज से गरीबी को दूर करें, लोगों में शिक्षा का प्रचार करें, महामारी और अकाल के समय जनता की सेवा के लिए दौड़ पड़ें और दुश्मन अगर सरहद पर आकर ललकारें, तो उसकी हेकड़ी मिटाने के लिए अपनी जान की बाजी लगा दें। आज का नया हिन्दू जात - पाँत की प्रथा में विश्वास नहीं करता, वह छुआछूत को नहीं मानता, न ही वह समझता है कि समुद्र पार जाने अथवा विधर्मियों के साथ एक मेज पर बैठकर भोजन करने से उसकी जात चली जाएगी।

दिनकर का सनातन दर्शन उदार विचारों पर आधारित है। दिनकर के सनातन में सामाजिक न्याय, मानवता, और समानता के मूल्य निहित हैं। वे जातिवाद, भेदभाव और असमानता के विरोधी थे और इन बुराइयों को हिंदू समाज की प्रगति में बाधा मानते थे। दिनकर का सनातन दर्शन भारतीय आध्यात्मिकता और भक्ति परंपरा पर आधारित है। वे मानते थे कि हिंदू धर्म की आध्यात्मिकता मानव-कल्याण और आत्मिक उन्नति की ओर प्रेरित करती है। वे परलौकिकता के बजाय लौकिकता में ज्यादा विश्वास करते थे। उन्होंने अंधविश्वासों और रूढ़िवादी विचारधारा का विरोध किया और वैज्ञानिक सोच और प्रगतिशीलता को अपनाने की वकालत की।

दिनकर के सनातन दर्शन की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वह सनातन को समय के साथ बदलते रहने के पक्षधर थे। ताकि वह समाज आधुनिकता और प्रगति की ओर ले जा सके। ऋग्वैदिक काल से लेकर उत्तर वैदिक काल तक और भगवान बुद्ध तथा महावीर से होते हुए गुरु गोविंद सिंह और स्वामी विवेकानंद तक, हिंदू धर्म अनेक परिवर्तनों से होकर गुजरा। जिसका जिक्र दिनकर ने अपने अनेक आलेखों में किया है। उन परिवर्तनों का ही यह परिणाम है कि सनातन संस्कृति लचीली बनी रही।

दिनकर का सनातन दर्शन संकीर्णता या कट्टरता से मुक्त है। वे सनातन को एक सांस्कृतिक और नैतिक दृष्टिकोण के रूप में देखते हैं, जो सहिष्णुता, न्याय और सामाजिक समरसता को बढ़ावा देता है। उनकी कविताएँ और लेख भी सनातन के इसी उदार और समावेशी स्वरूप को अभिव्यक्त करते हैं। उनके विचारों में भारतीय संस्कृति की सहिष्णुता, सामाजिक न्याय, आध्यात्मिकता, और आधुनिकता का अद्भुत समन्वय है। उनकी रचनाएँ भारतीय समाज को न केवल सांस्कृतिक चेतना

देती हैं, बल्कि सामाजिक परिवर्तन और प्रगतिशीलता की ओर भी प्रेरित करती हैं। हिंदू दर्शन तथा सनातन को समझने का प्रयास करने वालों के लिए दिनकर एक उपयुक्त विकल्प हो सकते हैं।

संदर्भ

1. चिंतन के आयाम, रामधारी सिंह दिनकर, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 2008, पृ. 17
2. वही, पृ. 17
3. वही, पृ. 18
4. वही, पृ. 19
5. वही, पृ. 20

सहायक प्रोफ़ेसर, हिंदी विभाग
श्री वेंकटेश्वर महाविद्यालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

दिनकर के काम चिन्तन की कणिकाएं

— हरदीप सिंह

प्रस्तुत आलेख दिनकर काम, अध्यात्म और ब्रह्मचर्य विषयक विचारों पर एक गहरी अंतर्दृष्टि प्रदान करता है। ऐसा लगता है कि दिनकर की जो विचारधारा एक उत्कृष्ट काव्य 'उर्वशी' के रूप में हिंदी साहित्य संसार की शोभा बढ़ा रही है उसका प्रस्फुटन दिनकर के इन्हीं विचार बिंदुओं से हुआ है जिसकी अभिव्यक्ति उनकी पुस्तक 'विवाह की मुसीबतें' में 'काम चिंतन की कणिकाएं' शीर्षक से हुई है। वास्तव में इन काम कणिकाओं के कण ही 'उर्वशी' में अबाध रूप से अणु बम की तरह विस्फोटित हुए हैं। इस लेखक का मानना है कि उर्वशी की रचना के पीछे इन्हीं काम कणिकाओं ने बीज रूप में काम किया है।

इन्हें समझने बूझने के लिए किसी व्याख्या या नव विमर्श की आवश्यकता नहीं है इस लिए इन्हें सीधा ही पाठकों के सामने प्रस्तुत किया जा रहा है -

1. बहुत सी नारियां इस भ्रम में रहती हैं कि वे प्यार कर रही हैं। वास्तव में वे प्रेम किए जाने के कारण आनंद से भरी होती हैं। चूंकि वे इनकार नहीं कर सकतीं, इस लिए यह समझ लेती है कि हम प्रेम कर रही हैं। असल में यह रिझाने का शौक है हल्का व्यभिचार है। प्रेम का पहला चमत्कार व्यभिचार को ख़त्म करने में है, पार्टनर के भीतर सच्चा प्रेम जगाने में है।

2. ऐसी औरतें हैं जिन्होंने प्रेम किया ही नहीं है, लेकिन ऐसी औरतें कम हैं, जिन्होंने प्रेम केवल एक ही बार किया हो।

जब प्रेम मरता है, तो बची हुई चीज ग्लानि होती है, पश्चाताप होता है।

प्रेम आग है, जलने के लिए उसे हवा चाहिए। आशा और भय के समाप्त होते ही प्रेम समाप्त हो जाता है।

सुखमय विवाहित जीवन संभव है। स्वादमय विवाहित जीवन संभव नहीं है।

प्रेम का नाम नहीं सुनते, तो बहुत से लोग हैं, जो प्रेम में नहीं पड़ते। कवियों और उपन्यास लेखकों ने प्रेम का प्रचार किया है।

3. औरतें अपनी वासना को काबू में ला सकती हैं, मगर अपनी रिझाने की प्रवृत्ति को वे रोक नहीं सकतीं।

प्रेम में पागल हो जाना किसी हद तक ठीक है, बेवकूफ बनना बिलकुल ठीक नहीं है।

4. ऐसी सती नारियां कम हैं, जो अपने जीवन को बेस्वाद नहीं मानती हों। ये नारियां उस खजाने के समान हैं, जो सुरक्षित इसलिए हैं क्योंकि वह गडा हुआ है। (पेज 33) यानी इसलिए कि उसका पता किसी को चला ही नहीं है। ज्यों ज्यों नर नारी के मिलन के अवसर में वृद्धि हुई है, त्यों-त्यों सती नारियों की संख्या में ह्रास हुआ है। पुराणी नैतिकता तभी बचाई जा सकती है, जब नर और नारी के मिलन के अवसर कम कर दिये जायें। नारी अग्नि है, पुरुष घृत कुंभ है। दोनों के अलग रहने में ही पुरानी नैतिकता का कल्याण है।

5. आदि काण्ड में नारी प्रेमी से प्रेम करती है। उसके बाद वह प्रेमी से नहीं प्रेम से प्रेम करने लगती है।

प्रेम और सतर्कता, ये साथ नहीं चल सकते। जैसे-जैसे प्रेम में वृद्धि होती है सतर्कता ख़त्म होने लगती है।

6. जो समाज अपनी औरतों को परदों में बंद रखता है और जो समाज उन्हें घूमने फिरने की आज़ादी देता है, उन दोनों की कवितायें अलग-अलग ढंग की होंगी। सुंदरता के बारे में तर्क जितना ही अधिक किया जायगा, उसकी अनुभूति उतनी ही कम होगी।

7. सुखी प्रेम का इतिहास नहीं होता। प्रेम का इतिहास रोमांस का इतिहास है और रोमांस तब जन्म लेता है, जब प्रेम में बाधा पड़ती है, रुकावट आती है, विशेषतः तब जब प्रेम दुखांत होता है। जिस प्रेम में आतुरता है, तेजी है, छटपटाहट और बेचैनी है, वह विपत्ति लाकर रहेगा।

कहते हैं, यूरोप और अमरीका में व्यभिचार सबसे बड़ी प्रवृत्ति है। व्यभिचार न हो तो कविता और उपन्यास में क्या रह जाता है? सारा साहित्य उस प्रेम के इर्द गिर्द चक्कर काटता है, जो नियमों का पालन करना नहीं जानता। मनुष्य जाति की आधी

से अधिक विपत्तियों का नाम व्यभिचार है।

विवर्जित के प्रति आकर्षण है, इसलिए विवाह टूटते हैं। लेकिन विवर्जित के प्रति आकर्षण में दुःख है। यह जानते हुए भी आदमी संत्रास को स्वेच्छया क्यों अपनाता है ?

8. प्रेमी अपराध करके न तो सुधार की कोशिश करते हैं, न पश्चाताप। कारण? उनका अंतर्मन कहता है कि उन्होंने पाप नहीं किया है, पाप और पुण्य की सीमा को लांघ कर वह आनंद लूटा है जो आनंद पाप और पुण्य की सीमा के इधर है ही नहीं। अवैध प्रेम में प्रेम की पात्री नायिका नहीं होती, बल्कि वह अनुभूति होती है कि हम प्रेम कर रहे हैं। नारी नर को और नर नारी को इसलिए नहीं चाहता (पेज 39)

कि वे नर और नारी हैं, बल्कि इसलिए की दोनों के मिलते ही एक ज्वाला उठती है, जो केवल नर या केवल नारी में नहीं उठ सकती रूकावट के बिना प्रेम में जोर नहीं आता, रोमांस की आग नहीं धधकती। जहाँ असली रूकावट नहीं है, वहां उसकी कल्पना कर ली जाती है। प्रेमियों के प्रति दया हमारे भीतर यह सोचकर आनी चाहिए कि अंत में विपद उनका इंतजार कर रही है।

वासना शरीर का चाहे जितना भी उपयोग करें, किंतु शरीर के कनूर को तोड़कर वह जीवित नहीं रह सकती। यूनानी और रोमन लोग इसीलिए प्रेम को बीमारी समझते थे।

9. वासना को शब्द और भाषा साहित्य से मिली है। अगर साहित्य ने प्रेम पर इतनी बातें नहीं कही होती, तो कम लोग इस जंजाल में फंसते। रूसो के प्रभाव में आकर लोग दूध ज्यादा पीने लगे थे। रेने के प्रकाश में आने के बाद कई पीढियां ग़मगीन रही थीं। सुना है एक बार कलकत्ते में एक फिल्म का इतना भयानक प्रभाव पड़ा कि कई लड़कियों ने झील में कूदकर आत्महत्या कर ली थी। उस फिल्म का नाम देवदास था।

10. मैं तो भाग्य की ठोकरें खाकर अध्यात्म की ओर मुड़ा हूँ, मगर यह देवी शायद सुख से ऊबकर अध्यात्म की ओर जा रही है। लेकिन यह अभी काम और अध्यात्म के बीच झटके खा रही है, जो अध्यात्म का मार्ग हो, लेकिन काम का विसर्जन उससे नहीं होता हो। अध्यात्म की सुनी सुनाई बातें वह जोर से दोहराती रही और खोद खोदकर पूछती रही कि विवाह बाह्य प्रेम हो जाए, तो पाप उसे क्यों माना जाना चाहिए। मालूम होता है, उसे जब कोई युवक अच्छा लगता है। तब इतने से ही

यह द्वंद्व उसे सताने लगता है।

वह पूछने लगी, एक नारी दो नारों को प्यार कर सकती है या नहीं ? नर दो नारियों को प्यार कर सकता है या नहीं? मन तो आप से आप खिंचा जाता है उसे समेटें तो कैसे? और यह समेटना ही क्या पुण्य है> लड़की का हाथ मैं अपने हाथ में ले सकती हूँ। लड़के का हाथ अपने हाथ में लेने से मन क्यों घबराता है? बीहड़ प्रश्।

मैंने कहा, यूरोप में चूमना भी दोष नहीं माना जाता।भारत में मात्र हेरने से शंका उत्पन्न हो जाती है। द्वंद्व व्यक्ति की तरंग और समाज के नैतिक बंधन का है। अध्यात्म के बारे में मैं ठीक ठीक नहीं बता सकता, लेकिन धर्म तो खुल्लम-खुल्ला (पेज 40)

समाज के नैतिक विधान के पक्ष में है। मगर अब मनोविज्ञान का राज चलने लगा है। मनोविज्ञान की शिक्षा है कि जानबूझकर फैलने की कोशिश मत करो। जानबूझ कर सिकुड़ने की भी कोशिश मत करो। लेकिन याद रखो कि बार बार की परीक्षाओं के बाद भी विवाह की प्रथा सही पाई गई है और विवाह के अपने कानून हैं। जिस बात से पति या पत्नी को शंका हो, चिंता हो शिकायत हो, वह बात चल नहीं सकती।

मुश्किल यह है कि अब मिलने-जुलने के इतने साधन निकल आए हैं कि पुरानी नैतिकता के लिए संकट खड़ा हो गया है। और जो नैतिकता इस नई दुनिया से मेल खाती है, वह नैतिकता है ही नहीं। उपन्यासों में सेक्स की समस्या का चित्रण जिस रूप में किया जा रहा है, उससे तो यही शिक्षा मिलती है कि पति और पत्नी को परस्पर सहनशील होना चाहिए। जिस नाव में औरत बैठी है, उसी नाव में मर्द भी है। देवी ने पूछा, 'इस विषय में श्री अरविन्द की राय क्या है?'

मैंने कहा, " उनका निश्चित मत था कि उनका योग नर-नारी समागम के साथ चल नहीं सकता।" श्री अरविंद आश्रम में सेक्स की मनाही है। लेकिन 'ईवनिंग टॉक' में कहीं उन्होंने अपने शिष्यों से यही कहा था कि नर-नारी संबंध का विषय अत्यंत निगूढ़ है। उसे तुम अभी नहीं आगे चल कर समझोगे। श्री अरविंद से किसी ने पर स्त्री गमन के विषय में भी पूछा था। उन्होंने कहा, "यह तो अपनी स्त्री के साथ समागम से भी खराब है।"

इसके विपरीत, महर्षि रमण ने एक भक्त के बार-बार के प्रश्न से आजिज होकर कहा था, "अगर तुम इस विषय में निरंतर सोचते रहना नहीं छोड़ सकते, तो अच्छा है कर ही डालो और इस बार-बार के सोचने से मुक्त हो जाओ।"

मैंने कहा,’मन का सेक्स बहुत ही खराब चीज है, तन का सेक्स उतना बुरा नहीं माना जा सकता।”

देवी ने इस सूक्ति को नोट कर लिया। मैंने अपने जीवन का एक अनुभव उसे सुनाया और कहा कि उस महिला को मैं हमेशा पवित्र मानता आया हूँ।

मैंने उसके मन पर यह बात बैठाने की कोशिश की कि अध्यात्म का मार्ग ठीक-ठीक वही मार्ग नहीं हो सकता, जिस पर विषयी लोग चलते हैं। दूसरों के स्खलन के प्रति उदार रहो, मगर खुद स्खलन से बचो, यही संतों का दृष्टिकोण है।।

11. बारहवीं सदी में फ्रांस में प्रेम आदर का विषय था और प्रेमी इज्जत से देखे जाते थे। इसी कारण साहित्य में एक परम्परा बन गई, जिसका वर्तमान रूप यह है कि साहित्य की दृष्टि से वासना उत्तम वस्तु है। वासना के लिए तनिक भी (पेज 41) आवश्यक नहीं है कि वह सामाजिक रस्म-रिवाज या आचरण का ध्यान रखे। जो भी व्यक्ति उद्दामता के साथ प्रेम करता है, वह औसत आदमियों के झुंड से उठकर उन्नत लोगों के बीच पहुँच जाता है, जिनकी संख्या थोड़ी है और जो पाप और पुण्य के पचड़े से निकल गए हैं। यही परंपरा अब सिनेमा में घुस कर ध्वंस फैला रही है। वासना पुण्य और पाप से अलग स्वतंत्र अनुभूति का विषय बन गई है और सिनेमा से शिक्षा यह निकल रही है कि प्रेम आचारों से मुक्त होता है। लेकिन यह मुक्ति नहीं है। आदमी मुक्त तभी होता है जब इन्द्रियां उसके वश में आ जाती हैं।

सिनेमा और साहित्य का सस्ता सुयश यह बताता है कि मानवता प्रेम के मारे बीमार है।

12. रोमांटिक मर्द किस नारी की ओर जाना चाहता है? उस नारी की ओर, जो सभी नारियों में छिपी विचित्रता का सार है, जो आकर भी नहीं आती है, जो आलिंगन में बंधने पर भी स्पर्श से दूर है, जो आकांक्षा जगाकर उसे तृप्त करने से भागती है, जो शय्या में होकर भी पूर्ण रूप से वहां नहीं होती, ‘जो सपने सदृश बाँह में उडी-उडी आती है; और लहर सी लौट तिमिर में डूब-डूब जाती है-

प्रियतम को रख सके निमज्जित जो अतृप्ति के रस में,
पुरुष बड़े सुख से रहता है उस प्रमदा के बस में।

13. नर और नारी अपने माशूक को अवैध मार्ग पर ले जाना चाहते हैं, जिससे उन्हें प्रेम के लिए प्रेम का सुख मिल सके।आनंदातिरेक भी अब एक तरह की सनसनाहट का नाम हो गया है। उसकी कोई मंजिल नहीं है, कोई दिशा नहीं है।

लोग तुलना के भ्रम में पड़े हुए हैं। मेरी बीबी वैसी नहीं है, जैसी दूसरे की बीवी। अरे यार, औरत को कमर तक ढंक दो, फिर सभी औरतें बराबर हैं। और भावना चाहो तो वह कुरूप नारी से भी मिलती है। रूप के न होने पर भी प्रेम व्यर्थ नहीं होता। प्रेम व्यर्थ होवे रूप बिना ? अगर हर कोई अपने पति या अपनी पत्नी से अतृप्त हो, तो समाज का रूप क्या होगा? वे जानते नहीं कि जो कुछ उनके पास है, उसका आनंद कैसे लिया जाए। आनंद के कल्पित रूप की खोज में वे फूर-फूल पर मंडराते फिरते हैं। किन्तु आनंद पाने की असली कुंजी उनके पास नहीं है।

जो सबसे जरुरी चीज है यानी वफादारी, उसीको वे कहीं खो आए हैं। वफ़ादारी के मानी ये हैं कि हम अपने पार्टनर को उसकी तमाम अच्छाइयों और बुरायिओं के साथ स्वीकार करते हैं, प्रेम को बीच में लाए बिना हम उसे मनुष्य के (पेज 42)

रूप में ग्रहण करते हैं। रूस के निहिलिस्ट चिंतक रोमांटिक थे। उन्होंने विवाह की प्रथा को उदा दिया था। किंतु इससे जो बुराइयाँ फैलीं, उनके खिलाफ लेनिन चिल्लाने लगे महज़ सामाजिक उपयोगिता की दृष्टि से विवाह की प्रथा फिर से वापस लाई गई।

14. विवाह को आसान मत बनाओ। अमेरिका और यूरोप में प्रेम हुआ नहीं कि लड़का-लड़की विवाह कर लेते हैं। यह काफी नहीं है। विवाह की संभावनाओं के कारण विवाह होना चाहिए। विवाह सोलह आने प्रेम नहीं है। उसमे कर्तव्य का भी पुट होता है।

समाज के दायित्व से अधिक महत्त्व व्यक्ति के सुख को देना ठीक नहीं है।

बुद्धि से विवाह की अनिवार्यता सिद्ध नहीं होती। बुद्धि से ब्रह्मचर्य भी अशक्य व्रत है। उसके लिए अमानुषिक शक्ति चाहिए। विवाह के प्रस्ताव में यह नहीं कहना चाहिए कि तुम मेरी कल्पना की साकार प्रतिमा हो, तुम मेरी कामनाओं की मूर्ति हो, तुम मेरी लैला हो, जिसका मैं मजनूँ बनना चाहता हूँ। यह कहने से क्या होता है? कल को मर्द का मन अगर भर गया, तो पत्नी से उसे कौन सूत्र बांध कर रखेगा?

विवाह का उचित प्रस्ताव यह होना चाहिए कि तुम जैसी हो, उसी रूप में मैं तुम्हें स्वीकार करता हूँ और वैसे ही स्वीकार करके मैं तुम्हारे साथ रहूँगा। मैं तुम्हें अपनी जीवन संगिनी बनता हूँ। मेरे प्रेम का यही एकमात्र प्रमाण है।

आज के नर नारी की मुद्रा ऐसी हो गई है कि व्रत को वे आनंद का शत्रु समझते हैं। व्रत को वे प्राकृतिक नियम नहीं मानते। इसलिए उनकी मान्यता है कि व्रतपूर्ण

विवाह अमानुषिक प्रयास के बिना नहीं निभ सकता। जिस आनंद की वे खोज करते हैं और जीवन का वे जो धर्म समझते हैं, व्रत उसका ठीक प्रतिलोम है। और व्रत को यदि उन्हें पालना ही पड़ा, तो वे समझेंगे कि यह नियम जीवन को अधूरा रखकर ही पाला गया है।

15. छली नायकों के बहाने क्या-क्या हैं?

"इससे क्या होता है? यह तो आती-जाती बात है। इससे क्या तुम्हारे प्रति मेरा प्रेम कम होता है?' अथवा कि 'मैं असमर्थ हूँ। यह मेरी वाइटल जरुरत है। नीतियों की परवाह मैं कैसे करूँ?"(पेज 23)

यार, ये ही दलीलें यदि नायिका देने लगें, तो तुम पर क्या गुजरेगी?

16. अगर औरतें मर्द के बराबर हो गयीं, तो उनका डीमोशन हो जाएगा। वे मर्दों की खोज का विषय नहीं रह जाएंगी, न पुरुषों की पूजा की पात्री।

मगर यह बात जरुर है कि प्रेम समानों के बीच होता है और यह समानता को प्रेरित करता है।

नारी के प्रति हमारा सच्चा निवेदन यह होना चाहिए कि हम उसे समान मानें, मनुष्य माने और यह सोचना भूल जाएँ कि नारी चांदनी है, नारी स्वप्न है, नारी गुलाब और जूही है, वह आधी देवी और आधी कामिनी है। सेक्स और स्वप्न को मिलाकर नारी की रोमांटिक कल्पना रोमांटिक लोगों ने की थी। किंतु नारी का असली रूप वह है, जिसे या तो मार्क्स ने देखा था या गाँधी ने।

गाँधी नर और नारी को व्रती बनाना चाहते थे। पुरुष जब व्रती होता है, तब नारी उसकी दृष्टि में काम का साधन या प्रतिबिम्ब नहीं रह जाती, वह व्यक्ति बन जाती है। यह वह दृष्टि है, जो कामियों को ज्ञात नहीं। नारी को मोहक और आमंत्रणपूर्ण मानना अपनी ही कम्युक्त कल्पना का प्रक्षेप है। यदि काम तेजी से जिधर-तिधर को भागता फिरे, तो प्रेम की गति मद्धिम रहेगी। प्रेम जब व्रत लेता है और भागिदार के भीतर व्रत की भावना को जन्म देता है, तभी यह कहा जाएगा कि प्रेम ने अपने को पूर्ण रूप से व्यक्त कर दिया। जो विवाह में विश्वास रखता है वह प्रथम दृष्टि वाले प्रेम में आस्था नहीं रखता और इस बात में तो बिलकुल ही नहीं कि वासना अदम्य होती है। वासना को अदम्य मानने की जो प्रथा चली है, व्यभिचार को बढ़ावा उसी प्रथा से मिल रहा है।

स्वस्थ और शक्तिशाली शरीर वाले लोग प्रथम दृष्टि में प्रेम के शिकार नहीं होते।

विवाह को भावुकता तथा बर्बर प्रेम का श्मशान मनना चाहिए। यदि बर्बर प्रेम ही प्राकृतिक प्रेम समझा जाए, तो उसकी तगड़ी अभिव्यक्ति बलात्कार में होती है और बलात्कार का अर्थ यह है कि नारी को हम व्यक्ति न मानकर केवल सेक्स की पुतली मानते हैं। बहु पत्नीत्व और बलात्कार, ये दोनों नारी के व्यक्तित्व का दमन करते हैं।

सुसंस्कृत और सच्चा प्रेमी कभी भी कोई ऐसा कृत्य नहीं करेगा, जो हिंसा है, जिससे भागीदारी के व्यक्तित्व का ह्रास होता है।

17. मनोविज्ञान में बहुत सी फालतू बातों पर भी विचार करते हैं। कहते हैं कि मर्द औरत से इसलिए जलता है कि वह अपने पेट से बच्चा पैदा नहीं कर सकता। (पेज 44) और औरत मर्द से इसलिए जलती है कि उसके पास लिंग नहीं है, योनी है।

फैमिनिस्ट आन्दोलन वाली औरतें कहती हैं कि औरत मर्द का भेद प्रकृति ने नहीं किया, वह मर्दों की रची हुई सभ्यता से प्रचलित हुआ है। औरतें इस सभ्यता को ढा रही हैं। अगर नर-नारी का भेद सभ्यता का किया हुआ है तो इस सभ्यता को औरत बर्दाशत क्यों करती है? असली कारण यह है कि जीवविज्ञान की दृष्टि से औरतों को प्रकृति ने जिस तरह की बना दिया, ये वैसी ही रहेंगी। वे पुरुषों को प्यार करने को बनी हैं, पुरुष के द्वारा प्यार किए जाने को बनी हैं। यह स्वभाव नहीं बदलेगा। सामाजिक आचार बदल सकते हैं, मगर बायोलॉजिकल प्रवृत्ति नहीं बदलेगी। औरतें कहती हैं कि फ्रायड ने औरतों को सहानुभूति से नहीं देखा। इसलिए कि फ्रायड ने कहा था,'एनाटोमी इज डेस्टिनी'। शरीर रचना में जो भेद है, उसी ने औरत को मर्द के अधीन बना दिया।

अत्याचार तो औरतों पर हुए हैं। अमरीका में कहा जाता है कि प्रभुत्व कायम रखने की कोशिश में औरत पतियों को पागल बना देती है, माताएं बेटों को आत्महत्या करने को विवश करती हैं। एक लेखिका ने लिखा है,'इसके मानी ये हुए कि अमरीकी औरतें बारी-बारी से पति और पुत्र को खाती हैं।'

18. दोस्तावासकी के ब्रदर्स कारामाजोव में पिता कहता है कि औरत बदसूरत होती ही नहीं है। खूबसूरत और बदसूरत का भेद बुढ़ापा करता है। जवानी औरत-औरत में भेद नहीं करती।

सभ्यता जब आदिम अवस्था में थी, मर्द के सबसे प्रथम पालतू जीव का नाम नारी था।

यूरोप में मध्य काल में आकर नारी के प्रति भाव बदला। दरबारों में बड़े घरानों में नारियां देवी समझी जाने लगीं, प्रेम की देवी, ईश्वर की विभा का प्रतीक। नाइट लोग युद्ध में जाते समय अपनी प्रेमिका का रुमाल साथ ले जाते थे। चुम्बन तो किसी किसी को ही नसीब होता था। मगर यह व्यवहार नाइट अपनी पत्नी से नहीं करते थे, उस नारी से करते थे, जो उनपर मोहित होती थी या जिस पर वे खुद मोहित होते थे। परंतु राजपूताने में यह प्रथा नहीं थी। वहां प्रेम का चिन्ह सामंत अपनी ही पत्नी से मांगते थे। राणा चूडामण ने अपनी पत्नी का मुडमाल ही पहन लिया था।

19. अगर औद्योगिक सभ्यता नहीं आई होती तो औरतों को घर के कामों से छुटकारा नहीं मिलता, न वे नारी स्वाधीनता आन्दोलन के लिए समय निकाल पातीं। छाती से दूध पिलाने की प्रथा इसलिए ख़त्म हो रही है कि औद्योगिक सभ्यता के शिशुओं के लिए अलग से दूध तैयार कर दिया है।

पश्चिम से जो रिपोर्ट आती है, उससे मालूम होता है कि वहां विवाह पूर्व अनुभूतियाँ अधिकांश को होती हैं और विवाहितों के भीतर भी व्यभिचार बहुत प्रचलित है। बात कहाँ तक ठीक है, कहना मुश्किल है। पहले की सभ्यता में क्या था, यह जानना भी कठिन है।

पूर्व प्रोफेसर एवं अध्यक्ष
हिंदी विभाग, सिक्किम वि.वि.

दिनकर के काव्य में जन चेतना

— डॉ. नीलम जैन

राष्ट्रकवि रामधारी सिंह दिनकर हिन्दी के महायशस्वी साहित्यकार के रूप में प्रतिष्ठित हैं। उनका साहित्य मानवता का पोषक व उत्थापक है, उन्होंने अपने चतुर्दिक व्याप्त परिवेश की तह में प्रविष्ट होकर अपने मानस में भाव राशि रूपी मुक्ताओं को चुन चुनकर शब्दावली की लड़ी में सत्य की साधना की है।

दिनकर जनचेतना के सच्चे पक्षधर है उनकी पक्षधरता एकांगी नहीं बल्कि बहुआयामी है। वे मानवतावादी रचनाकार है। उन्होंने जीवन के भयंकर यथार्थ का चित्रण प्रस्तुत किया है तथा पूंजीवाद, साम्राज्यवाद, साम्यवाद का तीव्र विरोध किया। उनकी विशिष्टता इसमें है कि उनकी रचनाओं और उनके वास्तविक जीवन में गहरा सामंजस्य है, दिनकर के साहित्य की पुकार का ही प्रभाव था कि तत्कालीन समाज में दलितों एवं शोषितों को धीरे-धीरे अपेक्षाकृत सम्मानपूर्वक जीवन जीने का अवसर मिला। समाज द्वारा इन्हे भी एक सम्मानीय मानव होने का अनुभव कराया गया। उनका प्रमुख उद्देश्य सामाजिक विषमता, अमानवीय व्यवहार, जातीय शोषण तथा राष्ट्रीय चेतना के प्रति मात्र संकेत करना ही नहीं बल्कि इन समस्याओं का समाधान भी प्रस्तुत करना है। साहित्य में इन्होंने जिन समाधान और तथ्यों को विकसित किया उसी का परिणाम था कि समाज में समन्वय एवं सामंजस्य स्थापित हो सका. दिनकर जी ने सामाजिक चुनौतियों और जीवन में फैली विषमताओं को समाप्त करने के लक्ष्य से ही ' नील कुसुम' काव्यकृति की रचना की दृष्टव्य पंक्तियां-

तोड़ दो इस महल को पस्त और बर्बाद कर दो

नींव की ईंटे हटाओ दब गए जो अभी तक जी रहे हैं.
जीवितों को इस महल के बोझ से आजाद कर दो। [1]

दिनकर ने अपने काव्य में उस व्यवस्था का विरोध किया है जहाँ श्रम करने वालों को उनके श्रम का उचित मूल्य नहीं मिलता, जहाँ खून पसीना बहाकर उत्पादन करने वाले भूखों करते हैं, मकान बनाने वाले फुटपाथों पर सोते हैं, जहाँ लोगों का जीवन भेड़ियों की कृपा पर निर्भर है। दिनकर का काव्य मुक्ति का उद्घोष है उनका मन सामाजिक और आर्थिक शोषण से पीडित जनता को देखकर हाहा कार कर उठता है। अब वह अनुनय विनय सब छोडकर क्रान्ति की ओर कदम बढ़ाता है -

पिलाने का कहाँ से रक्त लायें दानवों को
नहीं स्वत्व है प्रतिशोध का हम मानवों को।[2]

समस्त धरती पर शोषण विनाश की चिंगारियां फैली हुई है मनुष्य निरूपाय हो गया है, वह सामाजिक शोषण व अत्याचार से त्रस्त हो चुका है -

श्रमिकों का कर शोषण विनाश
चिमनियां छोड़ती मलिन सांस
श्रमिक शिथिल, विकल परिलुब्ध व्यस्त
क्षयमाण मनुज निरूपाय त्रस्त।[3]

शोषण, प्रहार, छीना झपटी से बचने के लिए मानव चतुर्दिक दौड रहा है,किन्तु इस यांत्रिक संस्कृति वाले संसार में किसी को उसकी चिन्ता नहीं है -

यों दुःखी, लुब्ध, दयनीय व्यग्र
है दौड़ रहा मानव समग्र
छीना झपटी, शोषण प्रहार
यन्त्राकुल संस्कृति के सिंगार।[4]

दिनकर का जब साहित्यिक क्षेत्र में आगमन हुआ उस समय भारतीय समाज में अस्पृश्य जातियों, किसानों, मजदूरों की स्थिति बहुत दयनीय थी, साहित्यकार समाज का ही एक अंग है अतः उस पर सामाजिक परिस्थितियों का प्रभाव पड़ना स्वाभाविक है, हरिजनों पर हो रहे अत्याचारों से कवि का हृदय वेदना से भर जाता

है, वे उनमें जाग्रति लाने के लिए बोधिसत्व आहवान करते हैं -

अनाचार की तीव्र आँच में अपमानित अकुलाते है जागो बोधिसत्व। भारत के हरिजन तुम्हें बुलाते हैं।[5]

रश्मिरथी में जाति पांति के विरोध में कर्ण क्षुब्ध होकर कहता है-

जाति जाति रटते जिनकी पूंजी केवल पाखण्ड
मैं क्या जानूं जाति, जाति हैं ये मेरे भुजदण्ड।।[6]

कवि पूंजीवादी दमन और शोषण से संत्रस्त कृषकों की दयनीय दशा पर ममहित हो उठता है -

जेठ हो कि पूस हमारे कृषकों को आराम नहीं
छूटे बैल से संग हमारे जीवन में कभी यह याम नहीं
बसन कहाँ सूखी रोटी भी मिलती दोनों शाम नहीं
मुख में जीभ शक्ति भुज में जीवन में सुख का नाम नहीं।।6

दिनकर को दमन और शोषण पर आधारित पूंजीवादी व्यवस्था स्वीकार्य नहीं है। एक और कुत्तों को दूध मिलता है दूसरी और ग्रामीण शिशु दूध के अभाव में मौत का ग्रास बनते जा रहे हैं-

वे भी यहीं दूध से जो अपने श्वानों को नहलाते हैं
वे बच्चे भी यहीं कब्र में दूध दूध जो चिल्लाते हैं।[7]

दिनकर का सामाजिक बोध खेत खलिहानों वनों से होकर गुजरा,इसने जन चेतना का स्पर्श भी किया, इसी प्रकार इनकी वन फूलों की ओर कविता में तत्कालीन गरीबी में जीवन बिताते ग्रामीण परिवारों का चित्र देखा जा सकता है।

श्रमिकों के श्रम का सम्मान करते हुए वे कहते हैं-

रोटी उसकी जिसका अनाज
जिसकी जमीन उसका श्रम है
आजादी है अधिकारी परिश्रम का
पुनीत फल पाने का।।[8]

दिनकर ने अपने साहित्य में कई ऐसी कविताएं व लेख लिखे जो विधवा विवाह, बाल विवाह, नारी भेदभाव आदि से सम्बन्धित थे, उर्वशी, रश्मिरथी,

रसवंती, कुरुक्षेत्र आदि काव्य संग्रहों से ऐसे प्रश्न उठाए जो नारी को समाज में सम्मानजनक स्थान दिला सके, कुंती, सीता, सावित्री, उर्वशी जैसी नारी पात्रों के चरित्र चित्रण से नारी में चेतना का मार्ग प्रशस्त किया। कवि नारी को सौन्दर्य पर अभिमान न करने को कहता है -

सुन्दरता पर गर्व न करना ओ स्वरूप की रानी
समय रेत पर उतर गया कितने मोती का पानी।[9]

दिनकर जनता की शक्ति पर विश्वास रखते हुए कहते है कि कोई भी शासक जनता का अहित कर बलवान नहीं हो सकता उनकी सत्ता जनता के क्रोध का शिकार होकर समूल नष्ट होती है। कवि का कथन है-

है कौन जगत में जो स्वतन्त्र जनसत्ता का अवरोध करे ?
रह सकता सत्तारूढ़ कौन ? जनता जब उस पर क्रोध करें।

इस प्रकार हम देखते हैं कि दिनकर की रचनाओं में क्रांति और विद्रोह के ही स्वर सुनाई नहीं देते अपितु उनकी कृतियों में आशा और विश्वास का सशक्त स्वर भी सुनाई देता है। “परशुराम की प्रतीक्षा” द्वारा कवि समाज में मानव मूल्यों की स्थापना करना चाहते है। “कुरुक्षेत्र” की रचना का उद्देश्य कवि विश्वशान्ति की स्थापना चाहते थे उन्हें जनचेतना को आंदोलित करने वाली छोटी से छोटी घटना ने स्पन्दित किया,। उन्होंने अपने काव्य में वर्णित प्रवृत्तियों के द्वारा जन कल्याण का पथ प्रशस्त कर समता, न्याय, सामाजिक व मानवीय मूल्यों की स्थापना तथा शासन व्यवस्था को साधनहीनों के अनुकूल बनाने के लिए जन चेतना फैलाने का कार्य किया, देश को बनाने के लिए जनचेतना फैलाने का कार्य किया, देश की आर्थिक और सामाजिक स्थितियों को उन्होंने खुली आँखों से देखा था इसीलिए उनके सामाजिक चित्र सजीव व यर्थाथपरक है।

दिनकरजी सजगता से कालक्रमानुसार रचनात्मक सोपान पर पंक्तिबद्ध रूप में चढ़े परिणामतः उनका रचनालोक विस्तृत ही नहीं व्यापकता को स्पर्श करता गया उनका काव्याभ्यास सुदीर्घ परम्परा और प्रयोग से समृद्ध होकर अंज भंज कर अभिव्यक्ति के हर पक्ष को काल के पृष्ठ पर अंकित करता गया, कवि और कविता का या उनके व्यक्तित्व एवं कृतित्व का समानान्तर दिशा में इससे अधिक

सामंजस्य क्या हो सकता है कि दिनकर और उनकी कविता यावच्चन्द्रदिवाकरौ की चरितार्थता को प्राप्त हुई।

संदर्भ

1. नीलकुसुम : दिनकर
2. हुंकार : दिनकर पृ.27
3. मृत्ति तिलक : दिनकर पृ.15
4. रेणुका : दिनकर पृ.26
5. रश्मिरथी : दिनकर पृ.30
6. हुंकार : दिनकर पृ.23
7. जीवन संगीत : दिनकर
8. उर्वशी भूमिका :दिनकर
9. रेणुका : दिनकर पृ.26

विजिटिंग स्कॉलर
सैन ओजे यूनिवर्सिटी, अमेरिका

दिनकर के काव्य में युद्ध और शांति का चिंतन

— पीयूष कुमार दुबे

युद्ध और शांति का प्रश्न सभ्यता के आरंभिक चरणों से ही मनुष्य के मन-मस्तिष्क को मथता रहा है। यह सत्य है कि सभ्यता के सातत्य को अक्षुण्ण रखने के लिए शांति एक अनिवार्य शर्त है। प्रश्न उठता है कि फिर युद्ध क्या है ? यदि युद्ध सभ्यता-विरोधी कृत्य है, तो इतिहास के अनेक मोड़ों पर साभ्यतिक मूल्यों की रक्षा हेतु रक्तपात क्यों हुए हैं ? सभ्यता के धरातल पर युद्ध और शांति का यह द्वंद्व मानव के समक्ष दीर्घकाल से एक नैतिक दुविधा उपस्थित करता आया है। वर्तमान युग भी इस दुविधा से मुक्त नहीं है। आज एक ओर बुद्ध और गांधी की करुणा व अहिंसा के गान सुनाई देते हैं, तो दूसरी ओर सैन्य-शक्ति को अद्यतित रखने हेतु अत्याधुनिक शस्त्रास्त्रों के क्रय और निर्माण में अपार धनराशि भी व्यय की जाती है। आज की संपूर्ण विश्व-व्यवस्था युद्ध और शांति के इसी द्वंद्व के मध्य संचालित है।

समय के संकटों के प्रति सजग और सचेष्ट रहना साहित्य का धर्म होता है। अतः राष्ट्रकवि रामधारी सिंह दिनकर के काव्य में भी प्रायः युद्ध और शांति का चिंतन विद्यमान रहा है। दिनकर का युग और वे स्वयं भी इस द्वंद्व से जूझ रहे थे। एक ओर उन्होंने 'बापू' नामक काव्य की रचना की, तो दूसरी ओर स्वयं को 'बुरा गांधीवादी' भी कहते थे। एक स्थान पर उन्होंने लिखा है, "गांधी और बुद्ध को बचाने के लिए उस खड्ग की आवश्यकता है, जिस खड्ग को उनके अनुयायी निन्दित बताते हैं।"

'कलिंग विजय' कविता से प्रबंधकाव्य 'कुरुक्षेत्र' तक दिनकर युद्ध-शांति के द्वंद्व का समाधान खोजने को आतुर दिखाई देते हैं। 'रश्मिरथी' में भी उन्हें जहां कहीं अवसर मिलता है, वे इस प्रश्न पर चिंतन करने लगते हैं। दिनकर के इस युद्ध और शांति के काव्य-चिंतन की निष्पत्ति क्या है ? इस चिंतन में दिनकर का पक्ष किस ओर

है ? और क्या यह चिंतन किसी सार्थक और तार्किक निष्कर्ष को सिद्ध करता है ? इन प्रश्नों के संदर्भ में दिनकर के युद्ध-शांति विषयक चिंतन का अनुशीलन करने का प्रयत्न इस आलेख में किया गया है।

युद्ध और शांति के संदर्भ में दिनकर की आरंभिक रचना 'कलिंग विजय' है। 'कलिंग विजय' का विषय ऐतिहासिक है। यह कविता दीर्घ संघर्ष के उपरांत कलिंग पर विजय प्राप्त करने के पश्चात सम्राट अशोक के भीतर उपजी आत्मग्लानि और अहिंसा के मार्ग पर चलने की उनकी प्रतिज्ञा को केंद्र में रखती है। इस कविता में युद्ध और मानवता के प्रश्नों पर गहन चिंतन उपस्थित है। इसमें दिनकर धन-लोलुपता और साम्राज्य-विस्तार के लिए किए जाने वाले युद्ध की भर्त्सना करते हैं। यह पंक्तियाँ देखिए -

हाय रे धनलुब्ध जीव कठोर!
हाय रे दारुण! मुकुटधर भूप लोलुप, चोर।
साज कर इतना बड़ा सामान,
स्वत्व निज सर्वत्र अपना मान।
खड्ग - बल का ले मृषा आधार,
छीनता फिरता मनुज के प्राकृतिक अधिकार।

'कलिंग विजय' इस तथ्य पर बल देती है कि युद्ध केवल विनाश का माध्यम है और सच्चा धर्म केवल शांति और अहिंसा में निहित है। अशोक के परिवर्तन के माध्यम से दिनकर ने यह संदेश दिया कि मानवता का कल्याण शक्ति या तलवार से नहीं, बल्कि प्रेम और सह-अस्तित्व से होता है। इस कविता में दिनकर युद्ध को निंदित कृत्य के रूप में देखते हैं; किंतु, संभवतः उनका मस्तिष्क युद्ध की यह सरलीकृत व्याख्या करते हुए संतुष्ट नहीं था और तभी यहीं से उनमें कुरुक्षेत्र की रचना का विचार उत्पन्न हुआ। उन्होंने लिखा भी है, "'कलिंग-विजय' नामक कविता लिखते-लिखते मुझे ऐसा लगा, मानो, युद्ध की समस्या मनुष्य की सारी समस्याओं की जड़ हो। इसी क्रम में द्वापर की ओर देखते हुए मैंने युधिष्ठिर को देखा, जो 'विजय', इस छोटे-से शब्द को कुरुक्षेत्र में बिछी हुई लाशों से तोल रहे थे।"

'कुरुक्षेत्र' में युद्ध और शांति का गहन दार्शनिक विश्लेषण मिलता है। यह रचना महाभारत के युद्ध की पृष्ठभूमि पर आधारित है, लेकिन दिनकर ने इसे आधुनिक युग के युद्धों और उनके परिणामों पर भी लागू किया है। इस प्रबंधकाव्य में उन्होंने युद्ध

की आवश्यकता, उसके प्रभाव और शांति के आदर्श पर गहराई से विचार किया है। महाभारत के कथा-विन्यास से यह प्रबंधकाव्य प्रारंभ होता है। युद्ध के पश्चात् उसकी विभीषिका से विचलित धर्मराज युधिष्ठिर शरशय्यारूढ़ भीष्म पितामह के पास पहुँचते हैं और उनके समक्ष आत्मग्लानि से भरे अपनी पीड़ा का चीत्कार कर उठते हैं -

"जानता कहीं जो परिणाम महाभारत का,
तन-बल छोड़ मैं मनोबल से लड़ता;
तप से, सहिष्णुता से, त्याग से सुयोधन को
जीत, नयी नींव इतिहास की मैं धरता।
और कहीं वज्र गलता न मेरी आह से जो,
मेरे तप से नहीं सुयोधन सुधरता;
तो भी हाय, यह रक्त-पात नहीं करता मैं,
भाइयों के संग कहीं भीख माँग मरता।"

इन पंक्तियों युधिष्ठिर की जो भावदशा उभरकर आई है, उसमें एक निश्चयात्मक बुद्धि की उपस्थिति दिखती है। यह निश्चय कि यदि दुर्योधन त्याग-तप-सहिष्णुता से सन्मार्ग पर नहीं आता तो भी वे युद्ध ठानने के बजाय भाईयों सहित भिक्षार्जन से जीवनयापन कर लेते। किंतु, यह ज्ञान युधिष्ठिर के भीतर युद्ध के पश्चात् आया है, जिसका कोई अर्थ नहीं है। युद्ध से पूर्व यह ज्ञान न होने का कारण बताते हुए वे कहते हैं -

"किन्तु, हाय, जिस दिन बोया गया युद्ध-बीज,
साथ दिया मेरा नहीं मेरे दिव्य ज्ञान ने;
उलट दी मति मेरी भीम की गदा ने और
पार्थ के शरासन ने, अपनी कृपान ने;"

युधिष्ठिर को लगता है कि भीम का अपार बल, अर्जुन की श्रेष्ठतम धनुर्विद्या आदि वो कारक हैं, जिन्होंने विजय का आश्वासन देकर उन्हें युद्ध की ओर उन्मुख किया तथा शक्ति के इस भीषण हुंकार में वे शांति के विचार का विवेक नहीं रख पाए। यहाँ तक कि वे कृष्ण को भी युद्ध की अग्नि में घृत डालने वाला कह जाते हैं -

"और जब अर्जुन को मोह हुआ रण-बीच,
बुझती शिखा में दिया घृत भगवान ने;"

विचार करें तो युद्धिष्ठिर का यह पश्चातापयुक्त विलाप, महत्वहीन ही प्रतीत होता है; क्योंकि, युद्ध के पश्चात् जब संपूर्ण विनाश हो चुका है, तब इससे कोई सिद्धि नहीं हो सकती। यह भावोद्गार कहने-सुनने में सुंदर और श्रेष्ठ हैं, किंतु परिणाम में इनकी निरर्थकता ही सिद्ध होती है। भीष्म यही कहते हैं -

भीष्म ने देखा गगन की ओर
मापते, मानो, युधिष्ठिर के हृदय का छोर;
और बोले, 'हाय नर के भाग !
क्या कभी तू भी तिमिर के पार
उस महत् आदर्श के जग में सकेगा जाग,
एक नर के प्राण में जो हो उठा साकार है
आज दुख से, खेद से, निर्वेद के आघात से?'

भीष्म युद्धिष्ठिर की भावदशा की प्रशंसा करते हुए इसे 'महत् आदर्श' तो कहते हैं; किंतु, तत्क्षण यह भी स्वीकार लेते हैं कि यह भाव 'एक नर के' मन में तो जाग सकता है, समुदाय के नहीं। एक नर के मन में भी यह भाव जागने के पीछे दुख, खेद का आघात ही कारण है। यह वैसे ही है कि किसी व्यक्ति को एक क्षण में अपशब्द सुनकर क्रोध आ जाता है, तो दूसरे क्षण में प्रशंसा सुनकर वो प्रसन्न भी हो जाता है। व्यक्ति की यह भावदशाएँ बाह्य व्यवहारों से संचालित होती हैं, उसके भीतर से नहीं उपजती। भीष्म युद्धिष्ठिर की स्थिति को भी इसी रूप में देखते हैं। वस्तुतः कवि की रुचि युद्धिष्ठिर के विलाप में अधिक नहीं है; तभी भीष्म 'महत् आदर्श' कहने के पश्चात इस प्रसंग से आगे बढ़ जाते हैं। आगे वे जो कुछ कहते हैं, वो सब युद्धिष्ठिर की भावदशा का प्रत्युत्तर ही रचता है। वे कहते हैं -

है मृषा तेरे हृदय की जल्पना,
युद्ध करना पुण्य या दुष्पाप है;
क्योंकि कोई कर्म है ऐसा नहीं,
जो स्वयं ही पुण्य हो या पाप हो।

इन पंक्तियों में कवि ने गीता के दर्शन का आश्रय लिया है। कर्त्तापन के भाव से मुक्ति, कर्म के बंधन से मुक्त करती है। यहाँ दार्शनिक धरातल पर तो युद्ध में पाप कर्म देखने की दृष्टि का निवारण हो जाता है। किंतु, आगे व्यावहारिक धरातल पर भी कवि ने युद्ध को 'पुण्य' बताते हुए उसकी आवश्यकता का तार्किक प्रतिपादन

किया है।

छीनता हो सत्व कोई, और तू
त्याग-तप से काम ले यह पाप है।
पुण्य है विच्छिन्न कर देना उसे
बढ़ रहा तेरी तरफ जो हाथ है।

प्रतीत होता है कि इन पंक्तियों में कहीं न कहीं दिनकर के भीतर का 'बुरा गांधीवादी' ही बोल उठा है। अपनी ओर बढ़ने वाले हाथों को अहिंसा की ओट में सहन करने की बजाय शक्ति से उसे नष्ट कर देने की मान्यता के साथ यहाँ दिनकर खड़े दिखते हैं। वे गांधीवादी थे, परंतु उनकी वैचारिकी अहिंसा के सिद्धांत की अतिवादिता के विरुद्ध थी। उक्त पंक्तियों में प्रकारांतर से वही वैचारिकी प्रकट हुई है।

दिनकर युद्ध को आवश्यक मानते हैं और आत्मरक्षा की स्थिति में उसे 'पुण्य' भी घोषित करते हैं। यह भारतीय सनातन संस्कृति का ही अभिमत है। किंतु, फिर क्या यह मान लिया जाए कि कवि के लिए त्याग-तप-करुणा-दया जैसे मूल्यों का कोई महत्त्व नहीं है ? निस्संदेह ऐसा नहीं है। यहाँ हमें व्यक्ति और समुदाय के भेद को समझना होगा। एक व्यक्ति अपने जीवन में इन मूल्यों को धारण कर सकता है, किंतु प्रश्न जब समुदाय का हो तो इनका स्वरूप बदल जाता है।

व्यक्ति का है धर्म तप, करुणा, क्षमा,
व्यक्ति की शोभा विनय भी, त्याग भी,
किन्तु, उठता प्रश्न जब समुदाय का,
भूलना पड़ता हमें तप-त्याग को।

यदि महाभारत काल में प्रश्न केवल एक युद्धिष्ठिर अथवा पाँच पाण्डवों के सुख का होता तो अवश्य ही युद्ध को टालकर तप-त्याग के सहारे दुर्योधन का हृदय-परिवर्तन करने का विकल्प श्रेयस्कर हो सकता था। किंतु, प्रश्न इससे कहीं बड़ा था। भीष्म कहते हैं -

जो अखिल कल्याणमय है व्यक्ति तेरे प्राण में,
कौरवों के नाश पर है रो रहा केवल वही।
किन्तु, उसके पास ही समुदायगत जो भाव हैं,
पूछ उनसे, क्या महाभारत नहीं अनिवार्य था?
हारकर धन-धाम पाण्डव भिक्षु बन जब चल दिये,

पूछ, तब कैसा लगा यह कृत्य उस समुदाय को,
जो अनय का था विरोधी, पाण्डवों का मित्र था।

यहाँ युद्धिष्ठिर के भीतर उपस्थित द्वंद्व के स्वरूप को भीष्म ने प्रत्यक्ष कर दिया है। यह व्यक्तिगत और समुदायगत भावों का द्वंद्व है, जिसमें स्पष्ट रूप से समुदायगत भावों का पक्ष प्रबल दिखाई देता है। जब धर्म और सत्य के पक्षधर व्यक्ति, अपनी व्यक्तिगत मान्यताओं के आधार पर अधर्मी और अत्याचारी के समक्ष समर्पण करते हैं, तो यह उनके लिए जितनी बड़ी क्षति होती है, उससे कहीं बड़ी क्षति उनके समर्थक-वर्ग के लिए होती है। युद्धिष्ठिर ने धर्म की अपनी व्यक्तिगत मान्यताओं में बँधकर जुए में स्वयं की और भाइयों की प्रतिष्ठा तो गँवाई ही, भरी सभा में अपनी पत्नी के वस्त्रहरण पर भी मस्तक झुकाकर मौन बैठे रहे। यह सब केवल इसलिए हुआ कि युद्धिष्ठिर जुए के नियमों को धर्म माने बैठे थे। समर्थ व्यक्तियों की ऐसी व्यक्तिगत मान्यताएँ, समुदाय के अपमान और पराभव का कारण बनती हैं। यही महाभारत युग में हुआ था।

दिनकर युद्ध के अंध-समर्थक या शांति के विरोधी नहीं थे। वे अनीति, अन्याय और अत्याचार के धरातल पर खड़ी कृत्रिम शांति के विरुद्ध थे। ऐसी शांति वास्तव में शांति नहीं, श्मशान का सन्नाटा होती है। महाभारत युग में भी अनेक शासक ऐसी ही शांति का शासन चला रहे थे, तो दिनकर के युग में ब्रितानी साम्राज्य भी इसी शांति की स्थापना में जुटा हुआ था। दिनकर लिखते हैं -

समर निंद्य है धर्मराज, पर,
कहो, शान्ति वह क्या है,
जो अनीति पर स्थित होकर भी
बनी हुई सरला है?
सब समेट, प्रहरी बिठला कर
कहती कुछ मत बोलो,
शान्ति-सुधा बह रही, न इसमें
गरल क्रान्ति का घोलो।

दुर्योधन के अन्याय को सहन करते हुए भिक्षुक बनकर पाण्डव यदि शांति की स्थापना कर भी लेते तो वो इसी प्रकार की शांति होती। इसमें पाण्डव स्वयं तो कष्ट और अपमान भोगते ही, उनके पक्ष में खड़ा समुदाय भी पराभव की स्थिति में जीने

को विवश होता। यह केवल पाँच व्यक्तियों के चयन का क्षेत्र नहीं था, अपितु इसमें धर्म और न्याय की सत्ता भी दाँव पर लगी थी। यही कारण था कि श्रीकृष्ण ने पाण्डवों की ओर से शांति के लिए प्रयास अवश्य किया और पाँच गाँव तक का प्रस्ताव दिया, किंतु पलायनजनित शांति के पक्ष में कभी खड़े नहीं हुए। वहीं जब अर्जुन को मोह हुआ तो उसे भी दूर कर धर्म और न्याय की स्थापना हेतु युद्ध का मार्ग प्रशस्त किया।

निष्कर्ष

रामधारी सिंह दिनकर का काव्य-चिंतन युद्ध और शांति के विषय में तार्किकता, संतुलन और दार्शनिक दृष्टिकोण से ओत-प्रोत है। उनके लेखन में यह स्पष्ट होता है कि युद्ध और शांति दोनों मानव सभ्यता के अपरिहार्य पहलू हैं, परंतु उनके बीच सही संतुलन होना अत्यंत महत्वपूर्ण हैं। दिनकर ने अपने काव्य में इन्हें केवल ऐतिहासिक संदर्भ में नहीं, बल्कि सार्वकालिक और सार्वभौमिक संदर्भ में प्रस्तुत किया है। दिनकर का मत है कि युद्ध तब तक अनैतिक है, जब तक वह केवल विजय और प्रभुत्व के लिए लड़ा जाए। परंतु, जब न्याय, धर्म और मानवता की रक्षा का प्रश्न उठता है, तो युद्ध एक आवश्यक और धर्मसम्मत उपाय बन जाता है। केवल इतनी-सी बात यदि आज का विश्व समुदाय समझ ले तो युद्ध और शांति के मार्गों का निर्धारण अत्यंत सरल हो सकता है।

सहायक प्राध्यापक,
कॉलेज ऑफ वोकेशनल स्टडीज़, दिल्ली विश्वविद्यालय

दिनकर के काव्य में राष्ट्रीय चेतना

— डॉ. रोशन राय

क्रांति-धात्रि कविते! जाग उठ, आडम्बर में आग लगा दें।
पतन, पाप, पाखंड जले, जग में ऐसी ज्वाला सुलगा दें।।

राष्ट्रीय भावना से अभिप्रायः- संस्कृत के अनुसार 'राष्ट्र' से 'ध' प्रत्यय के योग से 'राष्ट्रीयता' शब्द की संरचना हुई है। राष्ट्र विशेष के गुणों या राष्ट्र के प्रति विशिष्ट प्रेम को राष्ट्रीयता की संज्ञा दी जा सकती है। इस प्रकार राष्ट्रीयता राष्ट्र या देश के प्रति व्यक्ति का संवेदनशील घनिष्ठ संबंध होता है।

'ऐतरेय ब्राह्मण' में राष्ट्रीय भावना को इस प्रकार रूपायित किया है-

''तस्मै विशः क्वयमेवा नमन्ति इति 'राष्ट्राणि'
वै विशौराष्ट्रष्यैवनं तस्वयमुनमन्ति।''

अर्थात् प्रजाजन ही राष्ट्र है। प्रजाएँ ही स्वयं राष्ट्र का निर्माण करती हैं। अतः वे उसका सम्मान करती है।

अतीत की गौरव-गाथा से जन-मन को सन्मार्ग पर गतिशील रहने की प्रेरणा मिलती है। निश्चय ही राष्ट्रीय चेतना में राष्ट्र की स्वतंत्रता, अखंडता और एकता की पावन-त्रिवेणी का प्रवाह होता है। राष्ट्र प्रेम मानव-मन में उत्साह, त्याग और उत्सर्ग का अपूर्व भाव भरता है। सच्चा राष्ट्र-प्रेम आत्मा के दिव्य-भाव का साक्षात्कार करता है, जिससे देश के समस्त मानव, पशु-पक्षी और प्रकृति से आत्मीय लगाव का अनुभव करते हैं।

दिनकर जी ने जिस समय साहित्य सृजन शुरू किया, वह भारतीय इतिहास में सामाजिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक जागरण का दौर था। राष्ट्रीय स्वतंत्रता आंदोलन चरम पर था और देश गुलामी की बेड़ियों में जकड़ा हुआ था। ऐसे समय

में साहित्य केवल रचनात्मक अभिव्यक्ति तक सीमित नहीं था, बल्कि यह राष्ट्रीय चेतना जगाने और संघर्ष के लिए प्रेरित करने का एक सशक्त माध्यम बन गया था। दिनकर ने अपने लेखन के माध्यम से जनता के भीतर छुपी हुई शक्ति को जागृत करने का प्रयास किया। उन्होंने न केवल स्वतंत्रता संग्राम के आदर्शों को अपनी कविताओं में पिरोया, बल्कि समाज के शोषित और पीड़ित वर्ग को आवाज भी दी। उनकी रचनाएँ निराशा को दूर कर साहस और संघर्ष की भावना पैदा करने का कार्य करती हैं।

दिनकर स्वयं को द्विवेदीयुगीन और छायावादी परंपरा का उत्तराधिकारी मानते थे। उनकी कविताओं में द्विवेदी युग की सामाजिक चेतना और छायावाद का भावात्मक स्पर्श स्पष्ट रूप से झलकता है। परंतु दिनकर ने इन परंपराओं से आगे बढ़कर राष्ट्रीयता और क्रांति का एक नया स्वर स्थापित किया, जिसने उन्हें राष्ट्रकवि के रूप में ख्याति दिलाई।

दिनकर की राष्ट्रीय चेतना : दिनकर जी का सर्वश्रेष्ठ साहित्य राष्ट्रीय चेतना से ओत-प्रोत है। चीन से युद्ध के दिनों में दिनकर की 'परशुराम की प्रतीक्षा' कविता अत्यन्त प्रसिद्ध हुई।

इस कविता में देश के सैनिकों को अहिंसा त्यागकर पौरुष बनने का आह्वान किया गया है। सन् 1962 में चीनी-भारतीय-युद्ध के समय कविवर 'दिनकर' ने 'परशुराम की प्रतीक्षा' कविता में देश के पौरूष को जागृत करते हुए सिंह गर्जना की थी-

''वैराग्य छोड़ बाहों को विभा संभालो,
चट्टानों की छाती से दूध निकालो।
है रूकी जहाँ भी धार, शिलाएँ तोड़ो
पीयूष चन्द्रमाओं को पकड़ निचोड़ो।''[1]

'दिनकर' प्रेम, राष्ट्रीयता, मानवता और क्रांति के गायक हैं। उनकी कविता में राष्ट्रव्यापी जागरण का स्वर है। एक ओर वे अपने अतीत से प्रभावित हैं तो दूसरी ओर वर्तमान की अधोगति से क्षुब्ध। प्राचीन गौरव के प्रति उनके मन में अगाध प्रेम श्रद्धा है। दिनकर की कविता में दीन, दुःखी और दलितों के प्रति सहानुभूति एवं संवेदना भी है। उन्होंने श्रमिकों और कृषकों के दयनीय स्थिति का मार्मिक अंकन किया है। निम्न पंक्तियों में उनकी सहानुभूति एवं संवेदना द्रष्टव्य है-

आहें उठो दिन कृषकों की।
मजदूरों की तड़प पुकारें।
अरी गरीबों के लोहू पर,
खड़ी हुई तेरी दीवारें.....।

कवि ने हिमालय का मानवीकरण किया हैं। वास्तव में कवि हिमालय के माध्यम से भारतीयों को संबोधित कर रहे हैं। उनमें तेज, ऊर्जा, प्रकाश का संचार कर रहे हैं। एकता के सूत्र में बँध सकें, तेजस्वी हो सकें, इसलिए वे हुँकार भर रहे हैं।

"ओ, मौन तपस्वी-लीन यती।
पल भर को तो कर दृगोन्मेष।
वे ज्वालाओं से दग्ध विकल
है तड़प रहा पद पर स्वदेश
जिस पुण्यभूमि की ओर वही,
तेरी विगलित करूणा उदार।''[2]

कविवर दिनकर कहते हैं- हे हिमालय, देश के कितने वीर पुरुष रूपी रत्न हमसे छिन गए, जो स्वतंत्रता की चिनगारी जलाए थे। भारत का अनंत वैभव चला गया। हिमालय समाधिस्थ होकर साधना ही करता रहा और प्यारा देश भारत इन वीर रत्नों से रहित हो गया। महाभारत काल में दुःशासन ने द्रौपदी के बाल खींच लिए थे, जिसके कारण महाभारत के भयंकर युद्ध की योजना बनाई गई और आज न जाने कितनी स्त्रियों के सतीत्व को लूटा जा रहा है और कितनी कन्याओं का अपहरण हो रहा है, किन्तु फिर भी किसी के मन में पीड़ा नहीं कि इन अत्याचारों का प्रतिरोध किया जाए। चित्तौड़ से पूछों की जरा-सा अत्याचार होने पर बड़े-बड़े संग्राम रचे गए और नारियाँ जौहर व्रत करके जीते-जी अपने प्राणों की बलि दे दिया करती थीं। कवि ने इसी पीड़ा को निम्न शब्दों में प्रकट किया है-

"कितनी मणियाँ लूट गई ?
मिटा कितना मेरा वैभव अशेष।
तू ध्यान-मग्न ही रहा,
इधर वीरान हुआ प्यारा स्वदेश।
कितने दिन ज्वाला-बसंत छुआ?"[3]

दिनकर ने अपने समय की राजनीति को जनता और सत्ता के बीच खड़े होकर

देखा है। उनकी जनतान्त्रिक पक्षधरता सत्ता के अपराध यदि बेबाकी से बेनकाब करती है, तो सही अर्थों में यह राष्ट्रीय चेतना का सबसे जरूरी पहलू है। अपने देश से लगाव और प्रेम की यह संघर्षशील वास्तविकता है। जो जनता के जीवन से खिलवाड़ करते हैं, जिनके लिए लोकतन्त्र सिर्फ नाटकीयता की वस्तु भर है, जो गरीबों का स्वाभिमान अपने सुख के लिए बेच देते हैं, जो देश की लौकिकता को दरकिनार कर सत्ता के लिए किसी भी हद तक गिरते हैं, जिन्होंने अपने लोलुप झूठ के लिए देश को कत्लगाह बना दिया। जिन्होंने सरकार बचाने के लिए किसानों और मजदूरों के जवान बेटों को युद्धों में झोंक दिया हो- ऐसे राष्ट्रीयता के सौदगरों के लिए दिनकर की कविताएँ आज भी झन्नाटेदार सांस्कृतिक तमाचा हैं। बनावटी राष्ट्रवाद पर दिनकर की ये पंक्तियाँ देखी जा सकती हैं-

''वह कौन रोता हैं वहाँ
इतिहास के अध्ययन पर
जिसमें लिखा है नौजवानों के लहू का मोल है
कटवा किशोरों को मगर
आश्वस्त होकर सोचता
शोणित बहा, लेकिन गई बच लाज सारे देश की।''

इन पंक्तियों में दिनकर ने युद्ध कि राजनीति को भारतीयता की नजर से देखा है। वे राष्ट्रीयता को भारत की सांस्कृतिक परंपरा की विराट चेतना में निखारते हैं। वे अपने समय के मूल्यांकन के लिए सांस्कृतिक मानस में पैठ कर सवाल करते हैं और विश्वयुद्धों की विभीषिका को भारतीयता की मिथकीय चेतना से जोड़ते हैं। भारतीय मिथकीयता की सांस्कृतिक ताकत को समझने के लिए दिनकर बेहतरीन कवि हैं। कुरूक्षेत्र और उर्वशी जैसे काव्य-ग्रन्थ उनकी चेतना की कसौटी हैं।

दिनकर की कविताओं में राष्ट्रीय-चेतना समरसता में दिखाई देती है, क्योंकि वह पहले भारतीयता के कवि हैं, जो बाद में राष्ट्रीयता के रूप में पहचान बना कर प्रकृति के रूप में उभरतें हैं। वह राष्ट्रीयता की आड़ में भारतीयता नहीं, उनकी भारतीयता राष्ट्रीयता के रूप में अपनी पहचान बनाती है। इसलिए उन्होंने उन सत्ताधीशों के खिलाफ बेबाक होकर लिखा है, जो राष्ट्रीयता के रंगे चोले में अभारतीयता को ढ़के रहते हैं।

"दिशा दीप्त हो उठी प्राप्त कर पुण्य-प्रकाश तुम्हारा।
लिखा जा चुका अनल-अक्षरों में इतिहास तुम्हारा।
जिस मिट्टी ने लहू पिया, वह फूल खिलायेगी ही,
अम्बर पर धन बन छागा ही ऊध्वस तुम्हारा।
और अधिक ले जाँच, देवता इतना क्रुर नहीं है,
थककर बैठ गये क्यों भाई ! मंजिल दूर नहीं है।''4

जिस भारत भूमि की स्वतंत्रता के लिए इतने बलिदान हुए, उसमें स्वंत्रता का फूल खिलकर ही रहेगा। यह आशा अवश्य फलवती होगी। हमारी पीड़ा जन्य साँसे आकाश में बादल बनकर अवश्य छायेगी। जिससे कि स्वतंत्रता रूपी वर्षा होगी। हे भाई, अब लक्ष्य निकट ही है अतः थक मत बैठो।

तुम साधना-श्रम करो, जिससे तुम शीघ्र लक्ष्य की प्राप्ति कर सको।

'आग की भीख' कविता में देश की दयनीय स्थिति का चित्रण करते हुए भगवान से स्वदेश हित वरदान की भीख माँगते हैं कि उनके देश की सारी बुराइयाँ दूर हो जायें-

मन की बंधी उमंगे असहाय जल रही है,
अरमान-आरजू की लाशें निकल रही हैं।
भीगी-खुली पलों में रातें पुकराते हैं।
सोती वसंधुरा जब, तुझको पुकारते हैं।

आज देश को दिनकर की राष्ट्रीयता को समझने की बहुत जरूरत है। उनकी राष्ट्रीयता की जमीन वह तमाम कविताएँ हैं जो बालक-वृद्ध, नर-नारी सबके लिए सहज अनुभूति से मनुष्यता के और निकट पहुँचती है, वह उन्हें स्मरण करते हैं।

दिनकर जी के काव्यों में राष्ट्रीय चेतना एक अन्य स्तर पर दिखाई देती है, जहाँ वे शोषण का प्रतिकार करने का समर्थन करते हैं। वे कहते हैं कि यदि कोई हमारे साथ अन्यायपूर्ण व्यवहार करें तो नैतिकता का तकाजा युद्ध करना ही है न कि अनैतिकता को स्वीकार करना-

''छीनता हो स्वत्व कोई और तू
त्याग तप से काम ले, यह पाप है।''

संघर्ष के आह्वान के साथ दिनकर जी ने प्राचीन भारतीय आदर्शों एवं मूल्यों की स्थापना के माध्यम से भी राष्ट्रीय जागरण व राष्ट्रीय गौरव की भावनाओं को जगाने

में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है।

दिनकर की राष्ट्रीय चेतना संकीर्ण नहीं है। यह न केवल ब्रिटिश राज्य का विरोध करने वाली है, अपितु स्वतंत्रता के बाद भी जनता के सामाजिक-आर्थिक शोषण के विरूद्ध आवाज उठाने वाली है। कवि ने दिल्ली, नीम के पत्ते, परशुराम की प्रतिज्ञा, कुरूक्षेत्र में स्वतंत्रता- उपरांत जन-जीवन में व्याप्त आर्थिक, सामाजिक एवं राजनीतिक विषमताओं का चित्रण किया है-

''सकल देश में हालाहल है, दिल्ली में हाला है
दिल्ली में रोशनी, शेष भारत में अंधकार है।''5

दिनकर की कविताएँ पढ़ कर राष्ट्रीयता को भारतीयता के संदर्भ में जानने की जरूरत है। आज इस देश में जो लोग भारतीय होने से पहले राष्ट्रवादी होने का दंभ भर रहे हैं, वह हमारे सांकृतिक इतिहास को कलंकित ही करेंगे। अपने लोक और देश से विमुख व्यक्ति भारतीय नहीं हो सकता और भारतीयता से अपरिचित राष्ट्रवादी कैसे हो सकता है ?

दिनकर की कविताओं में चाँद का कुर्ता, नमन करू मैं, सूरज का ब्याह, चूहे की दिल्ली यात्रा, कलम आज उनकी जय बोल, बालिका से वधू इत्यादि सैकड़ों ऐसी कविताएँ हैं जो दिनकर की भारतीयता को राष्ट्रीयता तक लाती है। दिनकर की भारतीयता यहाँ के जन-जीवन और प्रकृति में प्रेम और लगाव की है, इसी से हमारे सांस्कृतिक मूल्य बने है। दिनकर इन्हीं अर्थों में राष्ट्रीय है क्योंकि वह इससे पहले भारतीय हैं, भारतीय लोक के हैं, भारतीय जन के हैं।

वस्तुतः कविवर 'दिनकर' संवेदनशील कवि हैं। उनका अधिकांश साहित्य राष्ट्रीय चेतना से ओत-प्रोत हैं। उन्होंने सामाजिक उत्थान-पतन और आंदोलन से प्रभावित होकर काव्य-सृजन किया हैं। देश पर जब-जब संकट के बादल घिरते हैं, मानव-जीवन संघर्ष में जूझने लगता है, तब तब 'दिनकर' की कविता जन-मानस में ऊर्जा का संचार करती है। उनकी कविता देश की संस्कृति, सभ्यता, भाषा, परम्परा और आदर्श आदि की अनूठी एकता की आधारभूमि प्रस्तुत करती है।

हिन्दी साहित्य के सूर्य 'दिनकर' ने अपनी लेखनी से साहित्य को तो प्रकाशित किया ही, साथ ही साथ देश के जन-मानस में राष्ट्रीय चेतना के दीप भी प्रज्जवलित किए। दिनकर के शब्द राष्ट्रीय चेतना के संवाहक थे तथा उनकी लेखनी की धार बड़ी पैनी थी। दिनकर की भाषा और शैली में प्रसाद गुण यथेष्ट है, प्रवाह है, ओज

है, अनुभूति की तीव्रता है और सच्ची संवेदनात्मकता भी। उनकी कविता में लगातार चिन्तन मनन की प्रवृत्ति है। उनकी कविता में कहीं ठहराव नहीं है। देश की तात्कालिक समस्याओं के साथ ही साथ वे भारत की सभ्यता और संस्कृति के सवालों से निरंतर दो-चार होते हैं। वे जीवन मूल्यों के प्रति कई स्तरों पर जुड़ते हैं। जीवन से ऐसी गहरी सम्बद्धता और मनुष्यता के सामने आये संकटों से संवेदनात्मक स्तर पर लड़ने की कूबत उनमें अटूट है।

दिनकर का समूचा कृतित्व हमारे जातीय साहित्य की अमूल्य धरोहर है। उनकी कविता की दो धारायें हैं लेकिन ये दोनों धारायें जीवन के उद्दाम प्रवाह से निकली है। दिनकर का महत्व दिन व दिन बढ़ता जा रहा है तो निश्चित ही यह उनकी रचनाशीलता की अन्यतम उपलब्धि के रूप मे स्वीकार किया जाना चाहिए।

संदर्भ

1. परशुराम की प्रतिज्ञा, रामधारी सिंह दिनकर
2. हिमालय, रामधारी सिंह दिनकर
3. वही
4. आशा का दीपक, रामधारी सिंह दिनकर
5. दिल्ली, रामधारी सिंह दिनकर

पूर्व शोध छात्र
हिंदी विभाग
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

प्रोफेसर रामधारी सिंह दिनकर जी का राष्ट्रवाद एवं भारतीयता

— सीमा शर्मा, डॉ. हरीश कुमार वैश्य

साहित्य के नव में उभरता हुआ सितारा, कविता जगत में चमकता हुआ तारा, महान साहित्यकार, परम देशभक्त,विश्व विख्यात शिक्षक, ख्याति प्राप्त सांसदविद, सम्मानित दार्शनिक, प्रोफेसर रामधारी सिंह दिनकर हमारे देश के एक महान व्यक्तित्व में से एक थे। वह राष्ट्रवादी, महानतावादी कवि थे स्वतंत्रतावादी विचारधारा से पूर्ण एवं प्रेरणादाई राष्ट्रभक्ति से ओतप्रोत अपनी रचनाओं के माध्यम से दिनकर जी राष्ट्रवाद की भावना को आम जनता में जागृत करने का कार्य अपनी कविताओं के द्वारा करते रहे या यह कहना अतिशयोक्ति नहीं होगी कि उनकी देशभक्ति पूर्ण कविताओं के कारण ही उन्हें राष्ट्रवादी कवि की उपाधि मिली।

रामधारी सिंह दिनकर जी का जन्म 23 सितंबर 1908 को बिहार के मुंगेर जिले के सिमरिया गांव में हुआ था। मोकामा घाट के एक स्थानीय विद्यालय से उनकी आरंभिक शिक्षा आरंभ हुई उसके बाद उन्होंने पटना विश्वविद्यालय से स्नातक की परीक्षा पास की। अपने विद्यार्थी जीवन में ही इतिहास, राजनीति एवं दर्शनशास्त्र दिनकर जी के पसंदीदा विषय रहे उन्होंने हिंदी, संस्कृत, मैथिली, बांग्ला, उर्दू एवं अंग्रेजी साहित्य में भी विशेष योग्यता प्राप्त की फिर रविंद्र नाथ टैगोर, मोहम्मद इकबाल आदि उनके कविता लेखन से अत्यधिक प्रभावित थे। दिनकर जी ने स्वतंत्रता संग्राम के समय में भी क्रांतिकारी आंदोलन का खुलकर समर्थन किया था वह एक सच्चे गांधीवादी भी थे उनके राजनीतिक विचार महात्मा गांधी जी से अत्यधिक प्रभावित थे।

दिनकर जी अपने आरंभिक समय में विद्यालय में एक अध्यापक के रूप में भी कार्यरत रहे बाद में बिहार सरकार के विभिन्न पदों पर भी उन्होंने कार्य किया। वर्ष

1934 में उपपंजीयक का पद ग्रहण किया तथा वर्ष 1943 तक में पद पर कार्य करते रहे अपने राष्ट्रवादी व्यवहार के कारण वे अंग्रेज सरकार के क्रोध का कारण बने तथा 5 वर्षों में से 22 बार उनका स्थानांतरण अंग्रेजी सरकार के द्वारा किया जाता रहा ताकि वह अपने इस पद से स्वयं ही इस्तीफा दे दें। 1943 से 1945 तक वह बिहार के प्रचार अधिकारी के पद पर भी कार्य करते रहे स्वतंत्रता के बाद 1947 से 1950 तक दिनकर जी ने उपनिदेशक जनसंपर्क के पद पर भी कार्य किया बाद में दो वर्षों तक वे बिहार विश्वविद्यालय में हिंदी के प्रोफेसर भी रहे।

देश की प्रत्येक भाषा के काव्य में दिनकर जी की राष्ट्रीय भावना का समावेश रहा है। एक राष्ट्रीय कवि के रूप में दिनकर जी का विशेष स्थान है। हमारे देश में तो राष्ट्रीय चेतना का काल वैदिक काल से ही कविताओं में स्पष्ट रूप से दिखाई देता है। भारत के राष्ट्रीय आंदोलन के कवियों में से दिनकर जी अपना विशेष स्थान रखते हैं। राष्ट्रीय काव्य की परंपरा को दिनकर जी द्वारा निरंतर आगे बढ़ाया गया समाज को जागृत करने हेतु उन्होंने अपनी कविताओं को माध्यम बनाया। मैथिली शरण गुप्त, माखनलाल चतुर्वेदी, बालकृष्ण शर्मा नवीन, सोहनलाल द्विवेदी राष्ट्रीय नवजागरण के ऐसे कवियों के नाम है जिन्होंने अपने संकल्प और चिंतन से राष्ट्रीयता की अलख को जगा कर पूरे युवको को देश प्रेम की भावना से उत्प्रोत कर दिया था। इस काल में रामधारी सिंह दिनकर जी भी अपनी कविताओं के माध्यम से भारतीय स्वतंत्रता संग्राम में राष्ट्रीयता की भावना को निरंतर चरम पर पहुंचाते रहे। दिनकर जी राष्ट्रीय धाराओं के कवियों में सर्वाधिक सफल बनकर उभरे उनकी काव्य रचनाओं में गुलामी के प्रति विरोध की भावना स्पष्ट रूप से दिखाई देती थी। वह अपनी संपूर्ण गर्जना और भीषणता के साथ अपनी कविताओं को इस प्रकार से जनता के समक्ष प्रस्तुत करते की स्वतंत्रता के आंदोलन को और अधिक बल मिलता। राष्ट्रीय आंदोलन की सफलता असफलता उत्साह आशा और निराशा की स्पष्ट झलक उनके काव्य में मिलती है। दिनकर जी जीवन पर्यंत अपनी कविताओं के माध्यम से पहले ही राष्ट्र के प्रति भावों की वेदनाओं आक्रोश आदि को स्पष्ट रूप से समाज के समक्ष प्रस्तुत करते थे। दिनकर जी अपने काव्य के माध्यम से जैसे कभी रेणुका तो कभी हुंकार आदि से जनता में एक विशेष प्रकार के शंखनाद को विस्तारित करते हुए वह कहते थे।

युग धर्म का हुंकार हूं मैं,
पहले गाँडीव का टंकार हूं मैं।

कुरुक्षेत्र में भी दिनकर जी ने हुंकार भरे शब्दों से ही समाज को झकझोर ने का प्रयास किया है। दिनकर जी हिंदी साहित्य में ऐसे लेखक थे जो अपनी संपूर्ण रचनाओं में नवयुवकों को वयस्कों को समान रूप से जोड़कर रखते थे अपनी और पूर्ण भाषा शैली क्रांति और विद्रोह के स्वरों से वह सर्वसाधारण को गंभीर चिंतन करने पर मजबूर करते थे उनके काव्य की यह विशेषता थी कि वह एक नवीन चेतना का संचार संपूर्ण जनता में कर देते थे। दिनकर जी की परंपरा से राष्ट्रीय कवियों को विशेष प्रकार के संस्कार प्राप्त हुए थे। दिनकर जी के राष्ट्रीय काव्य को हम मुख्य रूप से दो भागों में विभाजित कर सकते हैं पहला स्वतंत्रता आंदोलन से संबंधित और दूसरा स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद बदलते हुए परिवेश से प्रेरित राष्ट्रीय काव्य। कवि न केवल हिंदी के राष्ट्रीय काव्य की संपूर्ण परंपराओं के विशेषताओं को अपनी कविताओं में समाहित करता है बल्कि बदलते हुए संदर्भों के अनुरूप राष्ट्रीयता के अनेक रूपों को भी प्रस्तुत करता है उन्हीं में से दिनकर जी भी एक थे। दिनकर जी के काव्य में राष्ट्रीय चेतना के साथ-सा साम्राज्यवादी नहीं सावंतवाद का विरोध भी स्पष्ट रूप से दिखाई देता था उन्होंने सत्ताधारियों के विरोध में वेवाक होकर लिखा। जो राष्ट्रीयता के भावों को दिखावे से ढके हुए हैं जिनके लिए लोकतंत्र केवल एक दिखावा है जो सत्ता प्राप्ति के लिए किसी भी सीमा तक जा सकते हैं कोई भी मार्ग अपना सकते हैं ऐसी राष्ट्रीय भावना के शत्रुओं के लिए दिनकर जी की कविताएं सांस्कृतिक रूप से उनके मुख पर एक तमाचा है जो बनावटी देश भावना को स्पष्ट रूप से ललकारता है।

दिनकर जी का विश्वास था कि यदि समाज में समानता संभव नहीं है तो समाजवाद का नारा केवल एक नारा मात्र है इससे कोई भी मानव सुखी नहीं होगा। दिनकर जी की राष्ट्रीय चेतना में एक ओजस्वी प्रभाव झलकता था। जिसमें एक स्वतंत्रता की ज्वाला थी तो दूसरी ओर विश्व शांति की आकांक्षा भी थी। जितने स्पष्ट एवं प्रखर रूप से दिनकर जी ने स्वयं धर्म और राष्ट्र के प्रति अपनी कविताओं को लिखा उतना ही उन्होंने विश्व बंधु की भावना को भी समाज के समक्ष रखा। साहित्य के क्षेत्र में दिनकर जी का योगदान हिंदी जगत के लिए एक असीम प्यार एवं पुरस्कार की भांति है। उन्हें काशी नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा पंडित महावीर प्रसाद द्विवेदी

पुरस्कार दो बार मिला इसके अतिरिक्त केंद्रीय साहित्य अकादमी पुरस्कार,ज्ञानपीठ पुरस्कार, विद्या वाचस्पति की उपाधि, साहित्य विद की उपाधि तथा पद्म भूषण की उपाधि से भी सम्मानित किया गया। 1955 में पोलैंड में अंतरराष्ट्रीय काव्य सम्मेलन में उन्होंने भारतीय प्रतिनिधिमंडल का नेतृत्व किया उनकी अनेकों रचनाओं का भारतीय भाषाओं में अनुवाद किया। आज भी देश को दिनकर जी की राष्ट्रीयता को समझने की आवश्यकता है क्योंकि वह पहले ऐसे भारतीय कवि थे जिन्होंने नर नारी युवा बलाक सभी को सही अर्थों में राष्ट्रीयता का पाठ पढ़ाया है।

वर्ष 1952 में दिनकर जी राज्यसभा के लिए निर्वाचित हुए तथा अप्रैल 1954 तथा 1960 में वह राज्यसभा के लिए उन्हें निर्वाचित हुए संसद सदस्य के रूप में अपने 12 साल के कार्यकाल के दौरान उन्होंने आम आदमी के जीवन को प्रभावित करने वाले मुद्दों को संसद में उठाया और जनता के कष्टों के निवारण के लिए सरकार पर जोरदार तरीके से प्रभाव डालने का प्रयास किया। 1964 में दिनकर जी ने राज्यसभा की सदस्यता से इस्तीफा देकर भागलपुर विश्वविद्यालय में कुलपति के पद को सुशोभित किया। दिनकर जी का प्रथम प्रकाशित कविता संग्रह विजय संकल्प था जो वर्ष 1928 में प्रकाशित हुआ दिनकर जी की कुछ मुख्य कविताएं प्राणभंग रेणुका, हुंकार, रसवंती द्वंदगीत, परशुराम की प्रतीक्षा,एवं हारे को हरीनाम, मिट्टी की ओर अर्धनारीश्वर, उजली आग, काव्य की भूमिका आदि प्रसिद्ध रहे। देश की राष्ट्रवादी वातावरण ने दिनकर जी को अत्यधिक प्रभावित किया था उनकी रचनाएं उस समय की देशभक्ति की भावना से प्रेरित थी।

उन्होंने जनसाधारण को अपनी कविताओं के माध्यम से पुनः जागृत करने का प्रयास किया। उनकी कविताएं इतनी प्रेरणादायक थी कि उन्होंने देश की जनता को स्वतंत्रता संग्राम में और अधिक बढ़- चढ़कर भाग लेने के लिए प्रेरित किया स्वतंत्रता सेनानी स्वतंत्रता संग्राम में भाग लेकर आजादी को पाना चाहते थे उनकी निडर कविताओं ने देश में राष्ट्रीय भावनाओं को जगाने में एक बड़ी भूमिका निभाई उनकी प्रसिद्ध कविताओं में से एक की पंक्ति सिंहासन खाली करो कि जनता आती है, स्वतंत्रता आंदोलन में एक बड़ा नारा बन गई। देशभक्ति पर उनकी कविताओं ने युवकों को विशेष रूप से प्रभावित किया था। वह अत्यधिक लोकप्रिय कवि थे युवकों में दिनकर जी की प्रतिष्ठा केवल उनकी देशभक्ति की भावना पर ही नहीं थी अपितु विवेकशीलता के प्रतिरूप दिनकर जी वह उनकी हिंदी कविताओं के प्रति

रुझान का भी प्रतीक थी। 20 वर्ष की आयु में उन्होंने सरदार वल्लभभाई पटेल के नेतृत्व में शुरू किए गए एक आंदोलन में किसानों की विजय से प्रेरित होकर बारदोली विजय नामक कविता की रचना भी की थी। इसी समय देश में कला और साहित्य पर मार्क्सवाद का भी प्रभाव दिखाई दे रहा था दिनकर जी भी इससे प्रभावित हुए परंतु वह लंबे समय तक इस धारा से प्रभावित नहीं रहे। दिनकर जी को सबसे अधिक जिस वर्ग ने प्रभावित किया वह लोग थे जो पारीक्षमिक लोग थे सामाजिक असंतुलन वे व्यक्ति जिनके पास भूमि नहीं थी और जिन पर रईस जमीदारों ने अपना आधिपत्य स्थापित किया हुआ था। इन सब गरीब व्यक्तियों ने ने दिनकर जी को अत्यधिक प्रभावित किया। दिनकर जी मानवता से संबंधित एक आध्यात्मिक कवि थे जिनकी कविताओं में जनता की पीड़ा स्पष्ट रूप से लोगों का ध्यान आकर्षित करती थी। वह चाहते थे कि भारत के लोग मजबूत हो दुर्बलों में देव फूंक दो चिंगारी, दिनकर जी ने सांस्कृतिक सामाजिक राष्ट्रीय विभिन्न विषयों पर महत्वपूर्ण लेख लिखकर हिंदी साहित्य को अत्यधिक समृद्ध किया था। वह कभी आसान रास्तों पर सरल जीवन जीने में विश्वास नहीं करते थे उन्होंने अपने लेखन के कार्यों में अनेक चुनौतियों का सामना किया और प्रत्येक पाठकों को इन चुनौतियों के सामने करने के लिए प्रेरित किया तथा सभी को यह समझाने का प्रयास किया कि अपनी चेतना एवं साहस से किसी भी चुनौती को पार किया जा सकता है अपने दृढ़ विश्वास से आगे बढ़ने के लिए उन्होंने जनसाधारण को प्रेरित किया और यह बताने का प्रयास किया की बुराई एवं अत्याचार पर एक न एक दिन अच्छाई अवश्य सफल होती है।

यदि उनकी कविताओं एवं लेखन पर गंभीर रूप से विचार किया जाए तो उन्होंने सदैव मानसिक वेडियो को तोड़ने के लिए जनता को प्रेरित करने का प्रयास किया वह इस विश्वास से आगे बढ़ते थे कि जो व्यक्ति आग एवं दर्द से गुजर रहा है वही जीवन के अच्छे दिनो का वास्तविक आनंद उठाता है यदि सफलता का आनंद कई गुना प्राप्त करना है तो आपको उतने ही संघर्षों से गुजरना होगा तभी आपको सफलता प्राप्त होगी। अनेक प्रकार के सामाजिक सांस्कृतिक शैक्षिक संस्थानों के सदस्य रहे दिनकर जी ने हिंदी भाषा के क्षेत्र में अपने महत्वपूर्ण कार्यों से योगदान दिया उन्होंने देश भर में 500 से अधिक साहित्यिक सम्मेलनों में भाग लिया तथा अंतरराष्ट्रीय कवि सम्मेलनों में भी भारत का प्रतिनिधित्व किया। दिनकर जी ने राष्ट्र के लिए प्रशंसनिक कार्य एवं सेवाओं को देखकर सरकार के द्वारा 1959 में पद्मभूषण

से सम्मानित किया गया। दिनकर जी ने हिंदी को अग्रणीय स्थान पर पहुंचने का कार्य किया में पद्म भूषण से सम्मानित किए गए दिनकर जी दो बार सर्वोच्च साहित्य पुरस्कारों से भी नवाजे गए। जैसा वर्तमान समय है या फिर आज के समय में जैसा साहित्य है बहुतकम ही लेखक हैं जो अपनी रचनाओं में देश और देशप्रेम और देश व जानता का जिक्र तो कर रहे हैं मगर सरकार और उसकी नीतियों के खिलाफ बेबाक अंदाज से सच बोलने से डर रहे हैं।

रामधारी सिंह दिनकर जी इस मामले में बिल्कुल विपरीत अंदाज रखते थे। और हैरानी की बात तो यह थी कि देश के पहले प्रधानमंत्री पंडित जवाहर लाल नेहरू और रामधारी सिंह दिनकर जी दोनों ही बहुत अच्छे दोस्त थे। और वह जवाहरलाल नेहरू जी ही थे जिन्होंने दिनकर जी की रचनाओं से प्रेरित होकर उन्हें राष्ट्रकवि का दर्जा दिया मगर जब बात कविता लिखने की और वह भी देश पर लिखने की बात आई तो दिनकर जी ने अपनी कलम के साथ किसी भी तरह का कोई समझौता नहीं किया और उस समय उस प्रकार के साहित्य की रचना की जिसमें देश से प्यार तो था ही साथ ही जिसमें तत्कालीन सरकार और उसकी नीतियों की जमकर आलोचना की गई। जैसा कि हमने बताया पंडित नेहरू जी और दिनकर जी आपस में बहुत अच्छे मित्र थे मगर जब बात नीतियों वह देश की सुरक्षा एवं व्यवस्थाओं की आई तो दिनकर जी ने किसी तरह का कोई समझौता अपने कविता लेखन में नहीं किया और उस दोस्ती का पूरा मान रखा जो उनके और नेहरू जी के बीच थी। व्यक्तिगत संबंधों से अलग हटकर दिनकर जी और नेहरू जी के की दोस्ती ने दुनिया के समक्ष एक अलग ही उदाहरण प्रस्तुत किया था कहा जाता है कि तब उस समय राज्यसभा में भी अपनी कविताओं के माध्यम से दिनकर जी ने नेहरू सरकार की नींव को हिलाने का कार्य किया था उन्होंने अपनी कविताओं के माध्यम से नेहरू सरकार को उसे समय कटघरे में खड़ा करने का कार्य किया था एवं जनता का पक्ष सरकार के सामने रखा था। नेहरू जी और दिनकर जी की दोस्ती में निर्णायक मोड़ तब आया जब भारत और चीन का युध्द हुआ। तब चीन के के तरफ तत्कालीन प्रधानमंत्री नेहरू जी का जैसा बर्ताव था उसने दिनकर जी को बहुत अधिक परेशान एवं दुखी किया और ये वही समय था जब दिनकर जी पूर्ण रूप से नेहरू जी के खिलाफ हो गए थे। लेकिन इस सबके बाद भी ये दिनकर जी का बड़े हृदय का ही परिणाम था कि उन्होंने अपनी पुरानी दोस्ती को बचाने के लिए अपनी विनम्रता एवं शालीनता

को पहले की ही भांति रखा और अपनी दोस्ती को भरपूर मान दिया। राष्ट्रकवि रामधारी सिंह दिनकर जी राष्ट्रभक्ति से ओतप्रोत कविताओं के लिए अपनी विशेष पहचान रखते हैं। ऐसा बिल्कुल भी नहीं था कि दिनकर जी ने नेहरू जी के खिलाफ किसी दोहरी नीति के कारण मोर्चा खोला था उन्होंने तो केवल नेहरू जी की गलत नीतियों के खिलाफ है उनका विरोध किया था। दिनकर जी ने अपनी रचनाओं के माध्यम से अंग्रेजी सरकार के खिलाफ भी पुरजोर तरीके से जंग को जारी रखा और अंग्रेजी हुकूमत की भी जम कर ईंट से ईंट बजाई। रामधारी सिंह दिनकर जी द्वारा लिखी उनकी रचना रेणुका हो या फिर मंजुला दिनकर ने अपनी कलम के माध्यम से अंग्रेज हुकूमत की तीखी आलोचना की और उनके खिलाफ अपनी कविताओं के माध्यम से भारतीय जनता में जोश भरने का कार्य उस समय पर दिनकर जी ने किया। भारत चीन युद्ध के समय नेहरू की नीतियों के कारण दिनकर जी ने दुखी व परेशान होने पर भी अपने क्रोध को कविताओं के माध्यम से ही जाहिर किया था। दिनकर जी की ये नाराजगी हमें उनकी कविता परशुराम की प्रतीक्षा में साफ एवं स्पष्ट रूप से दिखाई देती है।यदि इस कविता के पहले खंड को देखें तो दिनकर जी कहते हैं कि-

गीता में जो त्रिपिटक -निकाय पढ़ते हैं,
तलवार गला कर जो तकली गढ़ते हैं,
शीतल करते हैं अनिल प्रबुद्ध प्रजा का,
शेरों को सिखाते हैं धर्म अजा का,

दिनकर जी उस समय युवा ही नहीं प्रत्येक वर्ग के आम आदमी के हृदय में अपना एक विशेष स्थान बनाए हुए थे या सरल शब्दों में कहा जाए की दिनकर जी एक कवि होने के साथ-साथ युवकों की एक प्रेरणा भी थे उनकी ओजपूर्ण शैली उन्हें उस समय के सभी कवियों से अलग करती थी उनका अंदाज प्रत्येक क्रांतिकारी में एक जोश भरने का कार्य करता था उनकी कविताएं इस प्रकार की होती थी कि संग्राम में एक क्रांतिकारी ने किन-किन परिस्थितियों को किस प्रकार से झेला होगा उन्हें स्पष्ट रूप से समाज के समक्ष प्रस्तुत करती थीं। एक क्रांतिकारी को अपने क्रांतिवादी जीवन में किन-किन समस्याओं का सामना करना पड़ा जिन जिन वेदना से उसका हृदय गुजरा उनका सही चित्रण दिनकर जी की कविताएं समाज के सामने लाने में सक्षम रही और उनकी वेदनाओं की सच्ची तस्वीर समाज के सामने प्रस्तुत करती रही।

प्रोफेसर रामधारी सिंह दिनकर जी का निधन 66 वर्ष की उम्र 23 अप्रैल 1974 को मद्रास में हुआ कवि समाज व जनसाधारण के लिए यह अपूर्ण क्षति थी। सभी को अपनी कविताओं के माध्यम से जगाने वाला योद्धा अल्प आयु में कविता के आसमान को नक्षत्र से खाली कर गया। इस महान साहित्यकार को अपनी तरफ से श्रद्धांजलि देते हुए भारत के तत्कालीन राष्ट्रपति श्री बी.वी. गिरी ने कहा प्रोफेसर दिनकर के निधन से साहित्य जगत की अपूर्ण क्षति हुई है सीधे तौर पर अगर हम कहें तो हमारे राष्ट्रीय संग्राम में उनके योगदान और विशेष रूप से हिंदी के क्षेत्र में उनके योगदान को सदैव याद किया जाएगा। तत्कालीन प्रधानमंत्री श्रीमती इंदिरा गांधी जी ने अपनी शोक संवेदना प्रकट करते हुए कहा देश ने ऐसे उत्कृष्ट सृजनात्मक लेखक को खो दिया है जिसे हम लोगों की विरासत और आकांक्षाओं को प्रतिबंधित किया। दिनकर जी के निधन पर लोकसभा और राज्यसभा ने भी शोक व्यक्त किया 26 अप्रैल 1974 को अपने श्रद्धांजलि अर्पित करते हुए तत्कालीन अध्यक्ष डॉक्टर जी. एस. ढिल्लन ने उन्हें एक महान कवि एक शिक्षाविद और परिष्कृत संस्कृति का प्रतीक बताया डॉक्टर ढिल्लन ने कहा प्रोफेसर दिनकर ने अनेक क्षेत्रों में राष्ट्र की सेवा की।

एक ऐसा कवि जो अपने युग की आवाज बने अपने समय के हर वर्ग हर कमजोर हर मजलूम के हक मैं उठे समाज में उस समय चल रहे झूठ, पाखंड, आडंबर को खत्म करके एक स्वस्थ एवं जीवित समाज के निर्माण में अपना योगदान देने वाले राष्ट्रकवि प्रोफेसर रामधारी सिंह दिनकर जी जीवन भर अपनी कविताओं के माध्यम से युवकों को जीवित कर उनमें नव चेतना का संचार करने का कार्य करते रहे। हिंदी युग के लिए उनकी यह कविताएं किसी वरदान से कम नहीं है। दिनकर जी भारतीय परंपरा की एक अनमोल नक्षत्र थे जिन्होंने अपनी रचनाओं के माध्यम से देश निर्माण और स्वतंत्रता संघर्ष में स्वयं को पूरी तरह से समर्पित कर दिया था। कलम आज उनकी जय बोल जय जैसी प्रेरणादायक कविताओं के और उर्वशी जैसे काव्य के प्रणेता दिनकर जी ने हिंदी साहित्य को कभी न मिटने वाले लेखन प्रदान किए थे लेकिन उनकी विशेष पहचान कविता के क्षेत्र में ही उभर कर आई थी उन्होंने कविता में पदार्पण भले ही श्रृंगार रस से प्रभावित होकर किया लेकिन समय-समय पर उनकी कविताएं राष्ट्रीयता एवं स्वतंत्रता के प्रेम से बंधकर चली थी। दिनकर जी ने भी अपनी कविताओं में राष्ट्रीय प्रेम को स्वीकार करते हुए भारतीय ज्ञानपीठ पुरस्कार

समारोह में कहा था जिस तरह जवानी भर में रविंद्र और इकबाल के बीच झटके खाते रहा इस तरह जीवन भर में गांधी और मार्क्स के बीच भी झटका खाता रहा हूं इसीलिए उजाले को लाल से गुणा करने पर जो रंग बनता है वही रंग मेरी कविता का है और मेरा विश्वास है कि भारत वर्ष के भी प्रत्येक व्यक्तित्व का रंग यही होगा।

दिनकर जी ने बचपन से लेकर जवानी तक के अपने जीवन काल में अनेक प्रकार के उतार-चढ़ाव देखे निरंतर संघर्षों से निकलकर दिनकर जी की सोच एक व्यापक दृष्टिकोण में परिवर्तित होती रही इसी वातावरण का परिणाम था कि उनके व्यक्तित्व में जुझारूपन स्पष्ट रूप से झलकता था। वह एक पैनी नजर अपने युग की हर छोटी बड़ी घटनाओं पर रखते थे वह अपने समय की हर सांस को अच्छे से पहचानते थे और वही सब उनकी कविताओं में देखने मिलता था उन्होंने जीवन भर अपनी रचनाओं में हुंकार की गर्जना को बरकरार रखा वह क्रांति के अग्रदूत बनकर अपनी कविताओं के माध्यम से राष्ट्रीय प्रेम की अलख जागते रहे। राष्ट्रीय कविता की जो परंपरा भारतेंदु युग से आरंभ हुई थी वह दिनकर जी की कविताओं में भी उसी प्रकार सुशोभित होती रही जैसे कोई भी रस का कवि उन्हें लिख रहा हो मैथिली शरण गुप्त की तरह लोगों की दुर्दशा पर लिखने और रोने वाला एक राष्ट्रीय कवि भी है दिनकर जी हमेशा कभी हर्ष तो कभी पीड़ा तो कभी खुशी तो कभी वेदना निराश तो आशा जैसी कविताओं से समाज को हर्षाते रहे। दिनकर जी जितने बड़े शौर्य वीर और राष्ट्रवाद के कवि थे उतने ही संवेदना, सुकुमारता,प्रेम और सौंदर्य के भी कवि थे अपनी रचनाओं में उन्होंने वेदनाओ का मर्मस्पर्शी चित्रण किया है। यही वह समय था जब देश का आसमान नवयुवक की छाती से निकलते हुए खून से लाल हो रहा था सारा संसार हर प्रकार के सितम को सहन करते हुए निर्दोष जनता के मुंह से केवल वंदे मातरम की आवाज सुनाई दे रही थी।

दिनकर जी जिस परिवेश में पले बड़े थे उसमें उन्होंने केवल अंग्रेजों के अत्याचार को करीब से देखा और जीया था और इसे लेकर उनके मन में भारी आक्रोश समाहित था इन सब से उभर कर उन्होंने अपनी कविताओं के माध्यम से एक नई पृष्ठभूमि को तैयार किया। स्वतंत्रता आंदोलन के समय ज्यादातर कवि गांधी के विचारों से प्रभावित थे। एक तो गांधी जी का अहिंसक नीति और सत्याग्रह तो दूसरी ओर चंद्रशेखर आजाद और भगत सिंह की क्रांति। युवाओं की आस्था अब डगमगाने लगी थी। तब दिनकर जी ने युवाओं की मनस्थिति को अपनी कविताओं के माध्यम

से प्रस्तुत किया था। उनकी राष्ट्रीयता की यह भावना समय और हालात दोनों को ध्यान में रखते हुए लिखी गई उनके लेखन के माध्यम से यह लहर और अधिक उग्र होती चली गई अंग्रेजों के जुल्मों ने दिनकर जी को और अधिक विचलित किया था दिनकर जी ने अपनी कविताओं के माध्यम से न केवल रूढ़ियों पर पुरजोर प्रहार किया बल्कि दलित कमजोरों पर हो रहे अत्याचारों के खिलाफ भी जमकर आवाज उठाई थी। जाति व्यवस्था के विरोध में दिनकर जी ने अपने सबसे लोकप्रिय काव्य रश्मिरथी लिखी। दिनकर जी का मानना था की जाति व्यवस्था ने समाज में अनेक कुरीतियों को खड़ा किया है। दिनकर जी के व्यक्तित्व के अनेक रूप थे उन्होंने अपनी रचनाओं के साथ-साथ अपने सार्वजनिक जीवन को और अधिक प्रगतिशील बनाया। वह एक समाजवादी चिंतक के रूप में भी स्थापित हुए स्वतंत्रता से पहले दिनकर जी आजादी के लिए अलख जागते रहे तो स्वतंत्रता के बाद आम जनता की आवाज बनकर भारतीय जनता के दिल में राज करने लगे।

दिनकर जी ने कभी भी अपनी कविताओं के प्रति कोई समझौता नहीं किया उन्होंने भ्रष्टाचार में डूबे देश के प्रत्येक नेता की कटु आलोचना बिना किसी झिझके की इतना ही नहीं वह देश और जनता की सुख-दुख से अंजान बने नेताओं और बुद्धिजीवियों को भी ललकारने से नहीं चूकते थे। ऐसे बहुत कम लेखक हुए हैं जो जनता के भी करीब रहे हो और सत्ता के भी और दोनों में समान रूप से लोकप्रिय हो। दिनकर जी पहले ऐसे व्यक्तित्व थे जिनका विरोध बहुत कम देखने मिलता था यही वजह थी कि वह एक लोकप्रिय राष्ट्रकवि बनकर उभरे और जीवन भर करोड़ों लोगों की आवाज बनकर गूंजते रहे। राष्ट्रकवि रामधारी सिंह दिनकर जी मरकर भी अमर हैं उनकी रचनाएं आज भी इस बात का प्रमाण है कि प्रत्येक व्यक्ति की जुबान पर उनकी रचनाएं आज भी कहीं ना कहीं सुनाई देती हैं और आगे भी रहेंगी।

संदर्भ

1. दिनकर रामधारी सिंह “परशुराम की प्रतीक्षा” इंडियन प्रेस इलाहाबाद पृष्ठ संख्या 9 खंड एक
2. दिनकर रामधारी सिंह “प्राण भंग” पृष्ठ संख्या 54
3. दिनकर रामधारी सिंह “नील कुसुम” उदयाचल पब्लिकेशन पृष्ठ संख्या 29
4. दिनकर रामधारी सिंह” रश्मिरथी’ लोक भारती प्रकाशन
5. दिनकर रामधारी सिंह “कुरुक्षेत्र” राज्यपाल पब्लिकेशन पृष्ठ संख्या 57

6. दिनकर रामधारी सिंह “उर्वशी” लोकभारती प्रकाशन पृष्ठ संख्या 39
7. प्रोफेसर रामधारी सिंह दिनकर” लोकसभा सचिवालय नई दिल्ली पृष्ठ संख्या 2, 3, 4
8. दिनकर रामधारी सिंह “चक्रवाल” पृष्ठ संख्या 58
9. सेमेल्टी डॉक्टर वंदना “दिनकर के काव्य में राष्ट्रीय चेतना” पृष्ठ संख्या 932

शोधार्थिनी राजनीति शास्त्र
श्री वेंकटेश्वर विश्वविद्यालय उत्तर प्रदेश
प्राचार्य
श्रीमती दिलावरी देवी महाविद्यालय बुलंदशहर उत्तर प्रदेश

नवजागरण का नवनीत और दिनकर की राष्ट्रीय चेतना

— निधिलता तिवारी

आधुनिक युग में हम जिस राष्ट्रीय चेतना की बात करते हैं, उसका प्रादुर्भाव नवजागरण की सबसे महत्वपूर्ण देन है। इस युग में अंग्रेजी साम्राज्य के विरूद्ध भारतीयों को एकता के सूत्र में बांधने का उद्देश्य लेकर यहाँ जिस प्रकार की राष्ट्रीय चेतना का उद्भव हुआ, उसका अपने देश में इससे पहले सर्वथा अभाव था। राष्ट्र शब्द का प्रयोग यहाँ अधिकतर उस अर्थ में होता था, जिस अर्थ में आज हम प्रान्त या प्रदेश शब्द का व्यवहार करते हैं। अंग्रेजों की दासता से मुक्ति पाने के लिये ही यह विशेषण आज के नवीन अर्थ में ग्रहण किया गया। उनके साम्राज्यवादी शोषण के खिलाफ सबसे संगठित विद्रोह सन् 1857 के विद्रोह के रूप में सामने आया और यही भारत की राष्ट्रीय चेतना की आधार शिला भी बना। इस विद्रोह का संगठित उद्देश्य अंग्रेजों को सम्पूर्ण देश से बाहर खदेड़ना था, किसी एक क्षेत्र या रियासत से नहीं। क्योंकि यहाँ अंग्रेजों ने जिस तरह से सारी रियासतों को छल-कपट और 'फूट डालो और राज्य करो' की नीति से अधिकृत कर लिया था उनकी इसी कुटिलता ने जनता की आँखें खोलने के साथ- साथ उन्हें राष्ट्रीय एकता की आवश्यकता के प्रति भी सचेत किया। नवजागरण के फलस्वरूप आधुनिक युग में आये शिक्षा- विकास से देश को एक व्यापक दृष्टि मिली, जिससे यहां राष्ट्रीयता की भावना ने बल पकड़ा।

नवजागरण युग की सबसे बड़ी मांग यह राष्ट्रीय चेतना थी, जिसमें देश की स्वाधीनता का मूल छिपा था। इस जटिल प्रश्न को किसी एक निश्चित परिभाषा में पूर्णरूपेण स्पष्ट नहीं किया जा सकता क्योंकि राष्ट्रीय चेतना एक व्यापक भाव है जो किसी देश की भौगोलिक सीमा के अन्दर निवास करने वाले लोगों के राजनीतिक,

आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक, सांस्कृतिक एवं ऐतिहासिक सभी पक्षों को अपने में संजोये रखता है। राष्ट्रीय चेतना किसी एक राष्ट्र के निवासियों के अपने राष्ट्र के प्रति भावनात्मक सम्बन्धों में निहित होती है। द्वारिका प्रसाद सक्सेना राष्ट्रीय चेतना के इसी भावात्मक पक्ष को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि ‘‘राष्ट्रीय चेतना से हमारा तात्पर्य किसी देश की भौगोलिक सीमा में निवास करने वाले जन समूह की उस भावना से है जिसके फलस्वरूप वे संगठित होकर अपने राष्ट्र की प्रगति के लिये सतत प्रयास करते हैं। यदि वह राष्ट्र पराधीन होता है तो वे उसे स्वतंत्र बनाने के लिये प्राणों की बाजी लगा देते हैं। अपने समाज पर होने वाले क्रूर अत्याचारों एवं अनाचारों का डटकर मुकाबला करते हुए वे तब तक चैन नहीं लेते जब तक अत्याचारी को या तो समूल नष्ट नहीं कर देते या उसे बाहर खदेड़ नहीं देते। वे अपनी जाति एवं अपने धर्म की रक्षा के लिये सतत संघर्षरत रहते हैं। अपनी सांस्कृतिक धरोहर की सुरक्षा हेतु वे निरन्तर उत्सर्ग करने के लिये तत्पर रहते हैं और विदेशी आक्रांताओं से अपने राष्ट्र को सुरक्षित रखने के लिये देशवासियों को सर्वस्व बलिदान करने के लिए उद्धृत करते रहते हैं।[1]

वस्तुत: राष्ट्रीय चेतना राष्ट्र के प्रति कल्याणकारी भावों से परिपूर्ण वह अपनत्व की भावना है जो शांतिकाल में देश की जनता को राष्ट्र की एकता, अखण्डता, सुरक्षा और प्रगति के लिये प्रेरित, उत्साहित और जागृत करती है। पराधीनता के समय उसमें स्वाभिमान और आत्मविश्वास उत्पन्न करती है और आपात काल में उसको वीरता, साहस और निर्भीकता के भावों को जगाकर उसमें क्रांति के बीज बोती है, साथ ही राष्ट्र की आन के लिये सर्वस्व निछावर करने की अदम्य शक्ति भी प्रदान करती है। राष्ट्र चेतना को जगाने और प्रसारित करने में राष्ट्रप्रेमी कवियों एवं रचनाकारों का अप्रतिम योगदान होता है। हिन्दी साहित्य जगत के सुविख्यात कवि और रचनाकार रामधारी सिंह दिनकर भी एक सच्चे राष्ट्र प्रेमी हैं। राष्ट्र का उत्थान उनकी सबसे बड़ी साधना थी। उन्होंने अपनी ओजस्वी वाणी और क्रांतिकारी कविता द्वारा अपने युग के स्वतंत्रता संग्राम को प्रेरणा शक्ति और गति देकर पूरी सहभागिता निभाई। डॉ. नगेन्द्र राष्ट्रीय चेतना का मूल देशभक्ति को मानते हुए देशभक्ति की परिभाषा इस प्रकार देते हैं, ‘‘देशभक्ति में प्राधान्य तो निस्संदेह उत्साह का ही है परन्तु उसमें राग का आधार भी वर्तमान हैं। देशभक्ति व्यक्तिपरक न होकर एक समष्टिपरक भाव है अर्थात् यह रागामिश्रित उत्साह व्यक्ति के प्रति न होकर समष्टि के प्रति होता है।

देशभक्ति में स्व का वृत्त समग्र देश और उसके निवासियों तक विस्तृत हो जाता है।”[2]

राष्ट्रीयता सामाजिकता का ही सीमित रूप है। समाज में रचनाकार के चारों ओर जो घटित होता है वह उसी से प्रभावित होता है। दिनकर भी इसके अपवाद नहीं है। उनके आविर्भाव का युग उनके व्यक्तित्व और रचना में प्रतिबिम्बित हुआ है। वे स्वयं यह मानते हैं कि- ‘कवि मानवता का वह चेतना यंत्र है जिसपर प्रत्येक भावना अपनी तरंग उत्पन्न करती है, जैसे भूकम्प मापक यंत्र में पृथ्वी के अंग में कहीं भी उठने वाली सिहरन खुद से अंकित हो जाती है।’ दिनकर की राष्ट्रीय चेतना को जागृत करने में भी विभिन्न युगीन परिस्थतियों और व्यक्तियों का हाथ था। दिनकर के हिन्दी साहित्य जगत् में प्रवेश के समय देश राजनीति की भारी हलचल से गुजर रहा था। सन् 1905 के बंगाल विभाजन से ही देश में विद्रोह की जो चिंगारी भड़की थी, उसे सन् 1920 के जलियाबाग वाले हत्याकांड और सन् 1928 के साइमन कमीशन ने और भी प्रज्ज्वलित कर दिया था। अंग्रेजों के क्रूर दमन चक्र के विरोध में देश के उग्रवादी और समझौतावादी नेताओं में आपसी मतभेद और संघर्ष जारी थे। मजदूरों और किसानों में मार्क्सवादी चेतना इन्कलाब की लहर जगा रही थी। दिनकर के रचनाओं पर बंगाल और बिहार की विद्रोही राष्ट्रीय चेतना का भी प्रभाव था। बिहार के विद्रोह के वातावरण ने तो दिनकर के व्यक्तित्व की रचना ही की थी। सन् 1931 के कांग्रेस अधिवेशन के अन्तर्गत सर्वसम्मति से पारित पूर्ण स्वराज्य की मांग के द्वारा स्वतंत्रता को अपना जन्मसिद्ध अधिकार बताने की घोषणा से भी भारत के कोने- कोने में जो ज्वाला भड़की उसने भी दिनकर में क्रांति और विद्रोह के भावों को दृढ़तर किया। पराधीनता से मुक्ति के प्रयासों में बारम्बार मिलने वाली असफलता ने जनमानस में निराशा और किंकर्तव्यविमूढ़ के भाव भर दिये थे। इन्हीं विषम परिस्थितियों ने उन्हें अपने कर्तव्य निर्धारण में सहायता दी और उन्होंने अपने युग के स्वतंत्रता सेनानियों के हृदय से एकाकार होकर और बलिदान के गीतों को अपना अभीष्ट बना लिया-

“रण की घड़ी जलन की बेला, तो मैं भी कुछ गाऊँगा,
सुलग रही यदि शिखा यज्ञ की, अपना हवन चढ़ाऊँगा।” [3]

सन् 1857 के गदर, इतिहास की घटनायें और वर्तमान की तेजी से बदलती राजनीतिक गतिविधियों ने भी उसे आन्दोलित किया। कवि अपनी वैयक्तिक अनुभूतियों को भूल गया और उसके अशेष भाव सुमन राष्ट्र के नाम अर्पित हो

गये। उन्होंने स्वयं कहा है कि- "मुझ जैसे लोग राष्ट्रीय एवं क्रांतिकारी भावनाओं के प्रवाह में बह गये। मेरी वैयक्तिक अनुभूतियाँ धरी रह गयीं और मेरा सारा अस्तित्व सत्य समाज और राष्ट्र की अनुभूतियों के अधीन हो गया।"[4] राष्ट्र में व्याप्त शासन के अन्याय, दमन और शोषण के प्रतिकार में, हिंसा, फाँसी और बलिदान के इस वातावरण से दिनकर की क्रांतिकारी चेतना उदीप्त हो उठी। दिनकर कहते हैं कि "देश और समाज की परिस्थतियों ने ही उन्हें राष्ट्रीयता की ओर ढकेला, वरना यह उनकी स्वाभाविक वृत्ति नहीं थी। राष्ट्रीयता मेरे व्यक्तित्व के भीतर से नहीं जन्मी, उसने बाहर से आकर मुझे आक्रान्त किया। उस समय सारा देश उत्साह से उच्छल और दासता की पीड़ा से बेचैन था। अपने समय की धड़कन सुनने को जब भी मैं देश के हृदय से कान लगाता, मेरे कान में किसी बम के धड़ाके की आवाज आती, फाँसी पर झूलने वाले किसी नौजवान की निर्भीक पुकार सुनाई देती।"[5]

राष्ट्रीय गतिविधियों का प्रभाव तो उनके ऊपर स्पष्ट ही था। इन्हीं राष्ट्रीय संघर्षों में जान डालने और भारतीय जनता के मनोबल को बढ़ाने के लिये क्रांति और जागरण के गीत इस युग की आवश्यकता भी थे, किन्तु राजनीतिक पराधीनता और प्रतिशोध ही दिनकर की राष्ट्रीय चेतना को जगाने के एक मात्र कारण न थे। देश की क्षत- विक्षत आर्थिक अवस्था, गरीबी और असमानता के साथ- साथ सामाजिक पतन ने भी दिनकर को गहरे रूप से प्रभावित किया। और दिनकर के काव्य में अभिव्यक्त आक्रोश, आश्वासन, उद्बोधन अपने देशवासियों को जागृत करने के लिये स्वतः ही प्रसारित होने लगा। उन्होंने राष्ट्र- कल्याण के लिये जनता में नवचेतना, नवनिर्माण और विकास की प्रेरणा उद्बुद्ध की, जिसकी अभिव्यक्ति उनकी समसामयिक कृतियों में हुई। उन्होंने लिखा है कि "रेणुका और हुँकार" "सामधेनी और कुरुक्षेत्र" "द्वन्द्वगीत और बापू", इनमें मैंने जो कुछ भी गाया है कंठ फाड़ कर गाया है, हृदय चीर कर गाया है।"[6]

दिनकर का मानना है कि राष्ट्रीयता उनकी सहज अनुभूति न होकर आरोपित भाव है, उनमें सुकुमार हृदय के कोमल भावों का उद्रेक सहज और मानवीय होते हुए भी उनकी मूल प्रवृत्ति राष्ट्रीयता को ही माना जायेगा। जैसा कि गोपाल राय को यह उक्ति स्पष्ट करती है, "दिनकर की सोच राष्ट्रवादी सोच है और स्वदेश गौरव और स्वाभिमान उसमें कूट-कूट कर भरा है। उनकी सोच ईंट का जवाब पत्थर से देने की है और इसलिये उन्हें वे हर छोटी बड़ी घटनायें उत्तेजित कर देती हैं, जिनका सम्बन्ध

देश के स्वाभिमान तथा राष्ट्रीय हित से होता है।"[7] राष्ट्रीयता दिनकर की काव्य-चेतना के विकास की एक अपरिहार्य कड़ी है जिसका उद्देश्य राष्ट्र की स्वाधीनता, भारतीय सांस्कृतिक गौरव की पुनर्प्रतिष्ठा और राष्ट्र का सामाजिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक उन्नयन रहे हैं। युगों- युगों की दासता, गरीबी और अत्याचारों के सहने से भारत अपने तत्व की पहचान और अपने राष्ट्र के गौरव को भुला बैठा था जिससे उसमें आत्महीनता के भाव अन्दर तक पैठ गये थे। नवजागरण की चेतना, समाज सुधारकों के प्रयत्न एवं नवीन शिक्षा के प्रकाश से पुन: अपने पैरों पर खड़े होने के प्रयत्न में जुटे भारत को शक्ति और मनोबल के अजस्र स्रोत की नितान्त आवश्यकता थी। दिनकर ने युग की आवश्यकता को पहचाना और काव्य रूपी शस्त्र लेकर युग- संग्राम में कूद पड़े। उनके अनुसार- "साहित्य तो बहुत कुछ श्री कृष्ण के समान है जो खुद तो शस्त्र नहीं उठाता, लेकिन जिसकी दीप्ति प्रत्येक सूरमा के हाथ की तलवार तेज कर देती है।"[8]

भारत अंग्रेजों द्वारा दासता की बेड़ियों में जकड़े जाने पर ही राष्ट्रीयता के महत्व को पहचान सका था अत: उसकी सबसे बड़ी समस्या थी, पराधीनता से मुक्ति और मानवता का विनाश करने वाली इस दासता के नीचे पिसती हुई देश की असंख्य जनता की मुक्ति का प्रयत्न। ये पराधीनता को मनुष्यता के मार्ग की सबसे बड़ी बाधा और मानवता का सबसे बड़ा अपमान मानते हैं। जीवन में अगर प्रगति करनी है तो सबसे पहले इस दासता से मुक्त होना होगा। वे कहते हैं–

"दासत्व जहाँ है, वहीं स्तब्ध जीवन है,
स्वातंत्र्य निरन्तर समर, सनातन रण है,
स्वातंत्र्य समस्या नहीं आज या कल की
जागृति तीव्र वह, घड़ी घड़ी, पल-पल की।"[9]

परतंत्रता से मुक्ति के लिये दिनकर एक ऐसी प्रतिरोध की ज्वाला जगा देना चाहते थे जिसमें अंग्रेजी शासन के सारे पतन, पाप और पाखंड विनष्ट हो जायें। उनके लिये पराधीन रहने से बढ़कर आत्महनन और कोई नहीं है, अत: वे इस प्रतिशोध की अग्नि को बुझने नहीं देना चाहते, चाहे उसके लिये उन्हें अपने जीवन की आहुति ही क्यों न देनी पड़े-

"चाहती हो बुझना यदि आज,
होम की शिखा बिना सामान ?

अभय हो कूद पड़ूँ जय बोल
पूर्ण कर लूँ अपना बलिदान।" [10]

उन्हें मातृभूमि की पराधीनता असह्य हो उठती है, उसका झुका हुआ मस्तक उनके हृदय को व्याकुल कर देता है। वे अपने स्वतंत्रता प्राप्ति के इस पुनीत उद्देश्य को पूरा करने के लिये विदेशी शासन का समूलोच्छेदन करने के लिये कटिबध्द हो जाते हैं और उसके मार्ग में आने वाली हर बाधा से लड़ जाते हैं। मातृभूमि के चरणों में तीनों लोकों को समर्पित करने की उनकी यह उत्कट चाह इसी बात को अभिव्यक्त करती है-

"सोख लूँ बन कर जिसे अगस्त्य, कहाँ बाधक वह सिन्धु अथाह ?
कहो, खाण्डव वन वह किस ओर ? आज करना है जिसका दाह ?
फोड़ पैठूं अनन्त पाताल ? लूट लाऊँ बासव का देश ?
चरण पर रख दूं तीनों लोक ? स्वामिनी करो शीघ्र आदेश।"[11]

दिनकर के लिये स्वाधीनता प्राप्ति उस युग की सर्वोच्च प्राथमिकता थी और वे उसके मार्ग में जाने वाली प्रत्येक बाधा को खण्ड- खण्ड कर देना चाहते थे। लोकमान्य तिलक और महात्मा गांधी जैसे महान राष्ट्रीय नेताओं के अनुरूप दिनकर भी स्वाधीनता और स्वराज्य को भारतवासियों का पैदाइशी हक समझते थे। इतिहास के जिस काल बिन्दु पर दिनकर का आविर्भाव हुआ था वह युग भयंकर दुविधाओं और आशंकाओं का युग था। देश में छाये अंग्रेजी शासन के नृशंस दण्ड विधान में राष्ट्र प्रेमियों की प्रत्येक गतिविधि की सजा फांसी थी, जिससे समाज में प्रतिहिंसा, प्रतिकार, फाँसी और बलिदान के साथ- साथ भय और निराशा के मिश्रित भाव भी छाये हुये थे। दिनकर के व्यक्तित्व का निर्माण बंगाल और बिहार के क्रांतिकारी आन्दोलनों के तले हुआ था। उनपर लोकमान्य तिलक, सुभाष नरेन्द्र देव और जय प्रकाश जैसे उग्रवादी नेताओं का प्रभाव था जो अंग्रेजों की हिंसा का प्रत्युत्तर हिंसा से देना चाहते थे।

दिनकर के भीतर आक्रोश का यही बारूद भरा हुआ था। "उनमें देशभक्ति की भावना शुरू से ही बहुत स्पष्ट थी। यह भावना इतनी यथेष्ट थी कि उन्हें कहीं भी ले जा सकती थी, जेल की कोठरियों से लेकर फाँसी के तख्ते पर। देश की आजादी के लिये फाँसी के फन्दे पर झूलने वालों के मुख से वन्देमातरम् की पुकार उन्हें और भी अधीर कर देती थी। गांधी जी की समझौते और अहिंसावादी नीतियों की

बार-बार असफलताओं को देखकर उनके द्वारा आजादी मिलने की संभावना क्षीण होती प्रतीत होती थी। नौजवानों में अहिंसात्मक मार्गों के प्रति छाये इस असंतोष, अविश्वास, आक्रोश और अधीरता को दिनकर भी महसूस करते थे। उन्होंने अहिंसा और समझौते के प्रस्तावों की भर्त्सना की और भीषण राष्ट्र वाणी में हुंकार करते हुए कहा कि आज युग को धर्म की नहीं शक्ति की आवश्यकता है। वीरता और हिंसा की आवश्यकता है –

"रे ! रोक युधिष्ठर को न यहाँ
जाने दे उनको स्वर्ग धीर।
पर, फिरा में गाण्डीव गदा
लौटा दे अर्जुन भीम वीर।" [12]

और इसके लिये उन्होंने पूरे भारत वर्ष में विद्रोह और प्रतिशोध की ज्वाला को जगाये रखना आवश्यक समझा और युद्ध का विध्वंसात्मक भैरव-नाद छेड़ने के लिये, नवयुवकों में जोश और आक्रोश भरने के लिये प्रलयंकारी भगवान शंकर का आह्वान किया-

"कह दे शंकर से आज करें,
वे प्रलय-नृत्य फिर एक बार।
सारे भारत में गूँज उठे,
हर-हर-बम का फिर महोच्चार।" [13]

दिनकर को क्रांति की अजेय शक्ति पर पूर्ण आस्था थी, क्योंकि क्रांति ही में इतनी शक्ति होती है, जो बड़ी से बड़ी, अनीति और अन्याय के बल पर सत्ता में आयी सरकारों को पल भर में ढहा सकती है, गरीबों के खून- पसीने को चूस कर खड़े किये बेईमानों और अत्याचारियों के महलों को तहस-नहस कर सकती है। बड़े से बड़े आतंकवादियों, आततायियों का नामोनिशां मिटा सकती है। यही कारण है कि दिनकर युग- युगों से अन्याय, अपमान और शोषण के शिकार दीन-दलितों और शोषितों के लिये क्रांति को एक ऐसा परम शक्तिशाली अस्त्र मानते हैं, जो ज्वाला के रूप में फूट कर उनके समस्त दुःखों का नाश कर सकता है। वे कहते हैं –

"मैं निस्तेजों का तेज, युगों के मूक मौन की वाणी हूं
दिल जले शासितों के दिल की, में जलती हुई कहानी हूँ
सदियों की जब्ती तोड़ जगी, मैं उस ज्वाला की रानी हूँ।"[14]

दिनकर की राष्ट्रीय चेतना का मूल उद्देश्य क्रांति और प्रतिरोध द्वारा निर्बलों को उनका अधिकार दिलाना है। वे अशक्यों को अपनी न्याय की लड़ाई जीतने के लिये शक्ति अर्जित करने को कहते हैं, जिससे कोई उनकी ओर आँख उठाने की हिम्मत न कर सके-

"अंगारों से तुम रहो ज्वलित जागत विमर्श।
देखे जग, पर भयवश न कभी कर सके स्पर्श।।
जीवन के आविल दुरितजला दे वह्नि-कील।
बेचैन हृदय से कटे तारिका नृत्यशील।।"[15]

पाश्चात्य सभ्यता और संस्कृति को मानकर चलने वाली भारत की आधुनिक सन्तान को अपने देश के विस्मृत प्राचीन गौरव से परिचित कराना दिनकर की राष्ट्रीय चेतना का ही एक आवश्यक था। देश की गरिमा को जागृत करने के अनेक प्रयास नवजागरण के प्रत्येक जागरूक नेता ने की थी। देश के उज्ज्वल अतीत के गौरव और गरिमा को सुदृढ़ ढाल से विच्छिन्न होकर क्या भारत अपने विश्व में प्रतिष्ठित पद से गिर नहीं जायेगा? यह सत्य है कि आधुनिक युग में नवजागरण से पूर्व की भारत पतनावस्था का जीता जागता उदाहरण था, किन्तु यह भी सत्य है कि भारत का एक सुदीर्घ और उज्ज्वल इतिहास रहा है और अब आज सभ्यता के आदर्श माने जाने वाले देश बर्बरता, भूख और असुरक्षा से लड़ रहे थे। अत: दिनकर नये युग को प्रेरणा देने के लिये उज्ज्वल- अतीत का गौरव गान करते है। उन्हें आभास होता है कि आज का दृश्य म्लान होने पर भी भारत का प्राचीन अतीत में उसकी शूर-वीरता के कारण सबने लोहा माना था।

वे कहते हैं कि -

"जगती पर छाया करती थी कभी हमारी भुजा विशाल,
बार- बार झुकते थे पद पर ग्रीक, यवन के उन्नत भाल।
विजयी चन्द्रगुप्त के पद पर, सैल्यूक्स की वह मनुहार।
तुझे याद है देवी! मगध का वह विराट उज्ज्वल- श्रृंगार।"[18]

स्वतंत्रता से पूर्व दिनकर की राष्ट्रीय चेतना का मूल आधार था- स्वाधीनता की प्राप्ति। अपने इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये उन्होंने अंग्रेजी शासन के विरोध में क्रांति और विद्रोह को धर्म स्वीकार करके हिंसात्मक क्रांति का मुक्त रूप से आह्वान किया। 200 वर्षों से चले रहे निरन्तर संघर्ष के बाद देश को 15 अगस्त सन् 1947 को

दासता से मुक्ति मिली और दिनकर का आजादी की लड़ाई का ध्येय भी पूरा हुआ।

राष्ट्रीय चेतना के आधार होते हैं- राष्ट्रीय एकता और राष्ट्र प्रेम। राष्ट्र की एकता बनाये रखने के लिये राष्ट्र-भाषा का अत्यंत महत्वपूर्ण स्थान होता है और राष्ट्र-भाषा की अपनी ही एक भाषा हो सकती है। दिनकर का कहना है कि "प्रत्येक राष्ट्र का कोई न कोई संदेश होता है, जिसे वह ऐसी भाषा में नहीं कह सकता जिसमें उस संदेश की साधना न की गई हो, जिसमें शताब्दियों तक उसका चिन्तन और मनन नहीं हुआ हो।"[19] उनका मानना है कि यद्यपि अंग्रेजी विश्व की सबसे महत्व पूर्ण भाषा है, इससे उन्हें इन्कार नहीं है। लेकिन जो भाषा हमारे देश की सामान्य जनता की समझ से परे है, वह कैसे जनता के भावों की सच्ची अभिव्यक्त में सक्षम हो सकती है। दिनकर कहते हैं कि "अंग्रेजी जितनी भी विकसित भाषा हो, किन्तु वह हमारी संस्कृति को उसी खूबी से अभिव्यक्त नहीं कर सकती, जिस खूबी से वह उन लोगों की संस्कृति को अभिव्यक्त करती है जो उसे अपनी मातृभाषा मानते हैं।"[20] वे मानते हैं कि राष्ट्रभाषा में देश की आत्मा बसती है इसलिये यह राष्ट्रीय एकता का अपरिहार्य अंग है। उन्होंने अपने अभिभाषण में कहा कि, "जनता को अगर उसकी भाषा न मिली तो स्वराज्य लंगड़ा रहेगा, और जब स्वराज्य दोनों पाँवों पर चलेगा तो अंग्रेजी के ज़रिये नहीं, उस समय उसे देश की भाषायें ही सामर्थ्य देंगी।"[21]

दिनकर हिन्दी भाषा की सम्पूर्ण देश को आपस में मिलाने की शक्ति का गुणगान करते हुए कहते हैं कि हिन्दी तोड़ने नहीं जोड़ने वाली भाषा है। हिन्दी-भाषी प्रान्तों में जनपदीय भाषायें अनेक हैं, किन्तु उनसे एकाकार होकर हिन्दी ने सभी हिन्दी-भाषी प्रान्तों को एक सूत्र में बाँध रखी है। यही नहीं हिन्दी का एक अदृश्य तार गुजरात से लेकर असम तक सारे उत्तर भारत को एक धागे में बांध हुये हैं। महात्मा गाँधी ने हिन्दी की इसी प्रकृति से प्रभावित होकर इसे सारे देश के लिये चुना था।[22]

दिनकर ने भारत के लिये राष्ट्र-भाषा की महत्ता और आवश्यकता को सर्वोच्च प्राथमिकता दी है। वे अंग्रेजी के अन्तर्राष्ट्रीय महत्व को स्वीकार करते हुए भी हिन्दी को शीघ्रातिशीघ्र राष्ट्रभाषा के रूप में प्रतिष्ठित और सच्चे अर्थों में व्यवहृत होने में ही भारत की असली प्रगति देखते हैं। पराधीन जातियों में विदेशी शासन के विरूद्ध घृणा के कारण राष्ट्रीयता की भावना बल पकड़ती है और उसकी अभिव्यक्ति हिंसा, आक्रोश और क्रांति बनकर प्रस्फुटित होती है। दिनकर की मान्यता है कि भारत का हृदय जो कि सदा से ही मानवतावाद और उदारता को प्रश्रय देने के कारण राष्ट्रीय

से अधिक अन्तर्राष्ट्रीय रहा है, लम्बे समय तक दासता और शोषण सहन करने के कारण ही राष्ट्रीयता के संकीर्ण भावों की सीमा में बंधा था। बिना राष्ट्रीयता की जागृति के उसकी मुक्ति संभव भी नहीं थी, किन्तु आज जब देश स्वतंत्र हो गया है, तो हमें राष्ट्रीयता के बंधन तोड़कर विश्व मानवता के अपने मूल आदर्श का पुनरालिंगन कर लेना चाहिये। दिनकर का कहना है कि, "जैसे दासता एक प्रकार का शूल है, वैसे ही राष्ट्रीयता भी शूल है। भारत ने एक शूल का उपयोग करके दूसरे शूल को निकाल दिया है, अब उचित है कि वह इस उद्धारक शूल को भी फेंक दे।

इस प्रकार हम देखते हैं कि दिनकर पराधीनता की बेड़ियों में आबद्ध जातियों अथवा राष्ट्रों में शौर्य और उत्साह का संचार करके दासत्व से मुक्ति पाने में राष्ट्रीयता की महत्वपूर्ण भूमिका स्वीकार करते हैं किन्तु सीमित राष्ट्रवाद एवं पृथकतावादी प्रवृत्ति के कारण देश- विदेशों के अंत:करण में परिव्याप्त के प्रखर अहंकार और गौरव की संकीर्ण भावनाओं को विश्व शांति में बाधक समझते हैं। अतः दासता का अंत हो जाने पर मानवता के प्रसार के लिये वे संकीर्णता और पशुता की परिचायक राष्ट्रीयता को विसर्जित कर देना ही श्रेयस्कर समझते है। वे राष्ट्रवाद को विश्व मानवता के प्रसार में बहुत बड़ी बाधा मानते है क्योंकि राष्ट्रीयता एक नितान्त उपयोगी और राष्ट्रीय भाव होने के कारण राष्ट्रों को भौगोलिक सीमाओं में आबद्ध कर देता है। अत: दिनकर के अनुसार अन्तर्राष्ट्रीयता राष्ट्रीयता का ही विकसित रूप है। यह स्पष्ट है कि दिनकर की राष्ट्रीय चेतना के कण- कण में नवजागरण का स्रोत समाया हुआ है। उन्होंने अपनी काव्योक्ति द्वारा भारत में राष्ट्रप्रेम, बलिदान और क्रांति की जो चिनगारी सुलगायी थी उसने तत्कालीन परिवेश में जीवन, जागृति और चुनौती का संदेश प्रवाहित किया। उनके जागृति पूर्ण विचारों की हुँकार ने देश की पराजित, आत्महीनता से ग्रसित, निराश और शोषित जनता में चेतना फूँक कर उसे उसकी अपरिमित सामर्थ्य का बोध कराया और विदेशी शासन के शोषण एवं अन्याय से लड़ने की क्रांतिकारी अग्नि प्रज्ज्वलित की। अतीत के उज्ज्वल पृष्ठों और सांस्कृतिक सम्पदा से युग-प्रेरक मूल्यवान तत्वों को ग्रहण करके देश के प्राप्त स्वाभिमान को जगाया। इसके अलावा स्वाधीनता प्राप्ति के पश्चात भी स्वाधीनता और प्रजातन्त्र को सुदृढ़ बनाने के लिये न्याय और ईमान को देश की पूँजी बताया। राष्ट्रभाषा के महत्व को स्थापित करने के साथ- साथ देश के मंगल भविष्य का आह्वान किया। स्वधर्म और राष्ट्र के प्रति प्रेम और ममत्व के भावों की पूजा करने

के साथ- साथ विश्व मानवता पर भी बल दिया। ध्यातव्य है कि दिनकर की राष्ट्रीय चेतना में नवजागरण की ही प्रतिछवि समायी है और वह सच्चे अर्थों में नवजागरण की गीता है।

संदर्भ

1. दिनकर का काव्य, द्वारिका प्रसाद सक्सेना, पृष्ठ- 10
2. आधुनिक कविता की मुख्य प्रवृत्तियाँ- डॉ. नगेंद्र, पृष्ठ- 19
3. रेणुका, दिनकर, पृष्ठ- 2
4. चक्रवाल भूमिका, रामधारी सिंह दिनकर, पृष्ठ- 14
5. चक्रवाल भूमिका, रामधारी सिंह दिनकर, पृष्ठ- 14
6. वही ” ” पृष्ठ- 30
7. राष्ट्रकवि दिनकर, डॉ. गोपाल राय, पृष्ठ- 165 -66
8. मिट्टी की ओर, रामधारी सिंह दिनकर, पृष्ठ- 51
9. परशुराम की प्रतीक्षा, रामधारी सिंह दिनकर, पृष्ठ- 25
10. हुँकार, रामधारी सिंह दिनकर, पृष्ठ-10
11. वही ” ” पृष्ठ- 11
12. हुँकार, रामधारी सिंह दिनकर, पृष्ठ- 72
13. रेणुका, हिमालय कविता, रामधारी सिंह दिनकर, पृष्ठ- 16
14. हुँकार, रामधारी सिंह दिनकर, पृष्ठ- 40
15. हुँकार, रामधारी सिंह दिनकर, पृष्ठ- 46
16. रेणुका, रामधारी सिंह दिनकर, पृष्ठ- 16
17. राष्ट्रभाषा और राष्ट्रीय एकता, रामधारी सिंह दिनकर, पृष्ठ- 52
18. वही “ ” पृष्ठ - 4
19. शेष : निशेष : रामधारी सिंह दिनकर, संपादक- फूल फगर, पृष्ठ- 316
20. दिनकर, सं. सावित्री सिन्हा, पृष्ठ- 93

शोधार्थी, हिंदी विभाग
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

परशुराम की प्रतीक्षा एक अवलोकन

— डॉ. अनुरुद्ध सिंह

रामधारी सिंह दिनकर छायावादोत्तर काल अथवा उत्तर-स्वच्छंदतावाद-काल के कवि माने जाते हैं। रामधारी सिंह दिनकर ने 22 दिसम्बर 1962 ई. से 'परशुराम की प्रतीक्षा' नामक कविता का लिखना प्रारंभ किया और 7 जनवरी 1963 ई. को यह कविता पूरी हुई। चीनी आक्रमण से उद्वेलित होकर उन्होंने कई कविताएँ लिखी, लेकिन इस कविता में देश का पूरा क्रोध समा गया। 1962 ई. के अक्टूबर महीने में जब चीन ने भारत पर आक्रमण किया तब रामधारी सिंह दिनकर पटना में बीमार चल रहे थे। इस घटना से उनका आक्रोश उबल पड़ा था। उन्होंने 27 अक्टूबर को डायरी में लिखा- "रक्त-स्नान से भारत शुद्ध हो सकता है। अग्नि-स्नान से देश की ताकत बढ़ सकती है। विपत्तियों के झकोर से वह स्वराज्य जिन्दा किया जा सकता है, जो पार्सल में आया हुआ था।"[1]

हम जानते हैं कि 1962 में चीन ने हमारे देश के उत्तरी पश्चिमी सीमांत लद्दाख और उत्तर-पूर्वी सीमांत नेफा पर एक साथ आक्रमण किया था। नेफा पौराणिक कथाओं के अनुसार परशुराम की तपोस्थली है। यह वही जगह जहाँ के ब्रह्म सरोवर में अपनी मातृ हत्या के पाप को धोने के लिए उन्होंने स्नान किया था। कहा जाता है कि ब्रह्मकुण्ड में डुबकी लगाते ही उनके हाथ से उनका परशु छूट कर लोहित की धार में गिर गया। रामधारी सिंह दिनकर इस कविता में इस पौराणिक प्रसंग का सर्जनात्मक उपयोग करते हुए परशुराम के पुनरावतार और इस गिरे हुए परशु के फिर से उठने की कल्पना करते हैं- "तांडवी तेज फिर से पुकार उठा है। लोहित में था जो गिरा कुठार उठा है।"[2] परशुराम की उनकी कल्पना ऐसे वीर पुरुष की कल्पना है जिसके भीतर गाँधी-गौतम का त्याग और शंकर का शुद्ध विराग है। आँखों में आग

लेकर आने वाले इस महापुरुष में वह स्वदेश का भाग्य देखते हैं। सावित्री सिन्हा अपनी पुस्तक युगचारण दिनकर में लिखती हैं- "सूर्य ग्रहण के कलंकपूर्ण काले धब्बों को मिटाने के लिए दिनकर ने भारत के भाग्य-पुरुष परशुराम के एक हाथ में वेद और दूसरे में परशु दिया है। वेद धर्म, संस्कृति और दर्शन की रक्षा के लिए और परशु पापी अधर्मी, अत्याचारी और लोलुप शत्रुओं की गर्दन उड़ाने के लिए। यह भाग्य-पुरुष कोई विशिष्ट व्यक्ति नहीं स्वयं 'हम और तुम' हैं। उत्तेजित और क्रुद्ध भारत है- विशुद्ध भारत।"[3]

नेफा के मैदान में जब भारतीय सेना पराजित हो गई, तब उस पराजय के दंश से सारा भारत बेहाल हो उठा और प्रत्येक व्यक्ति अपने आप में यह सवाल करने लगा कि आखिर यह विशाल देश इतनी आसानी से हार क्यों गया? हमने हथियारों का बन्दोबस्त क्यों नहीं किया था? हमारे राष्ट्रीय चरित्र में वह कौन-सा दोष है जो हमें सबल बनने नहीं देता? हमने यह धोखा कैसे खाया? क्या हमारी सरकार असावधान थी? हम शान्तिवादी नारों के शिकार हुए हैं? अथवा दोष हमारे जातीय दर्शन का है? लेकिन अब हम किस तरह चलें कि ऐसा अपमान हमें फिर कभी झेलना नहीं पड़े? दिनकर की 'परशुराम की प्रतीक्षा' में ये सवाल क्रमानुसार आते हैं और राष्ट्र के हृदय में घुमड़ने वाली बेचैनियों को कवि बारी-बारी से अभिव्यक्ति देता है और कविता के अन्तिम खण्ड में वह उस मार्ग की ओर भी संकेत करता है जिस पर आरुढ़ हुए बिना भारत सम्मान के साथ नहीं जी सकेगा।

'परशुराम की प्रतीक्षा' कोई पाँच-छह सौ पंक्तियों की कविता है और वह पाँच खंडो में विभक्त है। इस कविता की शैली यह है कि नेफा के मैदान में हारा हुआ सिपाही खड़ा है और कवि उससे सवाल करता है तथा वह पराजित सैनिक कवि को उत्तर देता है। सिपाही से कवि का पहला ही सवाल उतना ही तीखा है कि वह हमारी तत्कालीन रक्षा-व्यवस्था पर प्रश्न-चिन्ह बन जाता है-

'गरदन पर किसका पाप वीर, ढोते हो?
शोणित से तुम किसका कलंक धोते हो?'[4]

और इस प्रश्न के उत्तर में सिपाही जो कुछ कहता है उससे उस विचारधारा पर करारी चोट पड़ती है जिसे लेकर भारत उस समय चल रहा था। सिपाही कहता है, हाय मैं उनका पाप ढो रहा हूँ, जिनके हृदय में असीम करुणा थी, जिनके भीतर न तो जवानी की आग थी, न कोई जहर था, जो लोग सस्ती कीर्ति पाकर खुशी से फूल गए

थे और जो ऐसे आदर्शों पर आसक्त थे जो निर्वीर्य और निस्स्सार है-

'गीता में जो त्रिपिटक-निकाल पढतें हैं,
तलवार गला कर जो तकली गढ़ते हैं।
शीतल करते है अनल प्रबुद्ध प्रजा का,
शेरों को सिखलाते हैं धर्म अजा का।
हम उसी धर्म की लाश यहाँ ढोते हैं,
शोणित से संतों का कलंक धोते हैं।' [5]

इस सिपाही के अनुसार भारत की पराजय इसलिए हुई कि व्यवहार को भूलकर वह आदर्श और कल्पना में खो गया था। स्वामी विवेकानंद ने कहा था कि जातियों के सामने जब भी बहुत बड़े आदर्श ध्येय के रूप में रखे जाते हैं जातियाँ विनष्ट हो जाती हैं। दिनकर का कहना है कि जो जाति अपने आपद्धर्म का पालन नहीं कर सकती, उसका परम धर्म अपने आप विनष्ट हो जाता है-

'हैं खड़े हिंस्र, वृक, व्याघ्र, खड़ा पशुबल है,
ऊँची मनुष्यता का पथ नहीं सरल है।
ये हिंस्र साधु पर भी न तरस खाते हैं,
कंठी-माला के सहित चबा जाते हैं।
जो वीर काटकर इन्हें पार जाएगा,
उन्तुंग श्रृंग तक वहीं पहुँच पाएगा।' [6]

नेफा की लड़ाई का सबसे कारुणिक पक्ष यह है कि बिना किसी तैयारी के हमारे नौजवान उस युद्ध में झोंक दिए गए थे। उस समय यह अफवाह देश में सभी जगह सुनी जाती थी कि हमारे सिपाहियों के हाँथ में तो बन्दुकें थीं वे महज मामूली किस्म की थीं और उनके पास गोलियाँ काफी अधिक नहीं थीं।

इसी पृष्ठभूमि को याद रखते हुए कवि ने सिपाहियों से दूसरा सवाल यह पूछा है कि हे! वीर, तुम्हारी हत्या का दायित्त्व किस पर है? वह कौन है, जिसे हम तुम्हारे वध के लिए जिम्मेदार मान सकते हैं?

सिपाही कहता है, हम दुश्मन से नहीं हारे हैं। पराजय हमारी अपने ही घर में हुई है। जिस देश के शासक न्याय बुद्धि से काम नहीं लेते, भाई-भतीजों को आगे बढ़ाने के लिए गलत नीति तैयार करते हैं, जिस देश के राजनीतिज्ञ लोभ के कारण सत्य नहीं बोल सकते, जिस देश के सत्ताधारी चारों ओर ठगों का पक्ष लेते हैं तथा

चाटुकारों को अपना मित्र समझते हैं, जिस देश में आत्मबल की मिथ्या प्रशंसा के लिए बाहुबल की उपेक्षा की जाती है, जिस देश के नेता केवल शांति की बातें बोलते हैं और जिसके कवि धरती को छोड़कर आकाश में उड़ान भरते हैं, वह देश लड़ाई में कभी भी विजयी नहीं हो सकता-

घातक है जो देवता-सदृश दिखता है, लेकिन हमारे में गन्न हुक्म लिखता है।
जिस पापी को गुण नहीं, गोत्र प्यारा है, समझो, उसने ही हमें यहाँ मारा है।
चोरों के हैं जो हित, ठगों के बल हैं, जिनके प्रताप से पलते पाप सकल हैं।
जो छल-प्रपंच सब को प्रश्रय देते हैं, या चाटुकार जन से सेवा लेते हैं।
यह पाप उन्हीं को हमको मार गया है, भारत अपने घर में ही हार गया है।[7]

जिसके देश शासन में विलासिता, आलस्य और कदाचार हो, उस देश की सेना युद्ध में विजय नहीं पाती है। लड़ाई जीतने की जिम्मेवारी केवल फौजियों की नहीं होती। लड़ाई जीतने के लिए शासन को निष्कपट और शुद्ध होना पड़ता है तथा सभी लोगों को कठोर जीवन बिताना पड़ता है। नेफा का सिपाही कहता है कि राजा, व्यापारियों और मजदूरों से कहो कि वे अपने पापों का बोझ हम पर नहीं डालें। जनता से कहो कि वह अपने संकल्प को अटल बनाये और शासकों से कहों कि न्यायशील हों। अगर शासन में पवित्रता नहीं आई तथा अयोग्य व्यक्ति योग्य व्यक्तियों को ढकेल कर आगे बढ़ते गए तो इस देश को युद्धों में विजय कभी भी नहीं मिलने वाली है-

हम देंगे तुमको विजय, हमें तुम बल दो, दो शस्त्र और अपना संकल्प अटल दो।
हों खड़े लोग कटिबद्ध नहाँ यदि घर में, है कौन हमें जीते जो यहाँ समर में?
हो जहाँ कहीं भी अनय, उसे रोको रे! यदि करें पाप शशि-सूर्य उन्हें टोको रे!
रिपु नहीं, यही अन्याय हमें मारेगा, अपने घर में ही फिर स्वदेश हारेगा।[8]

कविता का तीसरा खण्ड, कवित्व की दृष्टि से सर्वश्रेष्ठ है। इस खण्ड में भारत के उन सभी वीरों का आह्वान किया गया है, जिन्होंने भारत के गौरव की रक्षा के लिए कभी तलवार उठाई थी। चाणक्य और चंद्रगुप्त विक्रमादित्य और राणा प्रताप, गुरू गोविन्द सिंह और शिवाजी महाराज, बन्दावीर और लक्ष्मीबाई तथा सुभाष चन्द्र बोस और भगत सिंह का आहवान कवि ने ऐसी भावाकुलता से किया है कि उसे पढ़कर भुजाएँ फड़क उठती हैं। कवि कहता है कि भारत कोई साधारण देश नहीं है। कसूर उसका यह है कि उसने शरीर-बल की उपेक्षा करके अपना सारा ध्यान आत्मा पर केन्द्रित कर दिया है। इसीलिए आज के असुर भारत पर उसी प्रकार हँसते हैं जैसे

पुरा काल में दानव देवताओं पर हंसा करते थे। आवश्यकता इस बात की है कि हम आत्मा के साथ-साथ अपने शरीर का भी विकास करें। जिस दिन भारत के बाहुबल का सम्यक विकास हो जाएगा, उस दिन कोई भी देश भारत का अपमान नहीं कर सकेगा। भारत की अभी तुरन्त की आवश्यकता यह है कि वह बाहुबल से भली भाँति सज्जित हो जाये-

जब हृदय-हृदय पावक से भर जायेगा, भारत का पूरा पाप उतर जायेगा।
देखोगे, कितना प्रलय चंड होता है, असिवन्त हिन्द कितना प्रचंड होता है।
बाहों से हम अंबुधि अगाध थाहेंगे, धंस जायेगी यह धरा अगर चाहेंगें।
तूफान हमारे इंगित पर ठहरेंगे, हम जहाँ कहेंगे, मेघ वहीं घहरेंगे।[9]

इस खण्ड में भारत की भौगोलिक एकता का जो चित्र चित्रित किया गया है। वह भी अत्यन्त भव्य है। कवि ने समान भाव से देश के उत्तरी और दक्षिणी भागों का आहवान किया है तथा हिमालय से लेकर हिन्द महासागर तक अपनी पुकार उसने एक-सी व्याकुलता के साथ भेजी है-

गरजो हिमाद्रि के बिखर, तुंग पाटों पर, गुलमर्ग, विंध्य, पश्चिमी, पूर्व घाटों पर।
भारत-समुद्र की लहर, ज्वार भाटों पर, गरजों, गरजो मीनार और लाटों पर।
जान्ह्वी, नर्मदा, यमुना के तीरों में, कृष्ण-कछार में, कावेरी-कूलों में।
चित्तौड़-सिंहगढ़ के समीप धूलों में, सोये है जो रणबली उन्हें टेरो रे।
नूतन पर अपनी शिखा प्रबल फेरों रे! [10]

युद्ध में सफलता उसी जाति को मिलती है जिसके कवि, चिन्तक, योगी, महात्मा, राजे, योद्धा और व्यापारी किसान तथा मुजदूर, सभी एक लक्ष्य की ओर उन्मुख हो जाते हैं। यदि सारा देश एक होकर शत्रु के विरुद्ध नहीं ड्टा तो विजय संदिग्ध हो जाएगी। इसलिए कवि कहता है-

चिंतको, चिंतना की तलवार गढो रे, ऋषियों, कृशानु-उद्दीपक मंत्र पढ़ो रे।
योगियों, जगी, नौवन की ओर बढ़ो रे, बन्दूकों पर अपना आलोक मढ़ो रे।
है जहाँ कहीं भी तेज, हमें पाना है, रण में समग्र, भारत को ही ले जाना है।[11]

कविता का चतुर्थ खण्ड वह है जिसमें सिपाही कहता है कि उसने नेफा के मैदान में जो कुर्बानी दी है, व्यर्थ नहीं जाएगी। हम एक ऐसी विचारधारा में फंस गये थे जो नकली और निस्सार थी। चीन ने गोले फेंक कर हमें जगा दिया है। हम प्रेम की राह से शान्ति-शान्ति करते आ रहे थे, लेकिन चीनी आक्रमण ने हमारे भीतर एक शंका

उत्पन्न कर दी। अब, हमारी पराजय में से विजय का मार्ग निकलने वाला है नेफा के मैदान में तोपों के गर्जन के भीतर से असल में भारत के भविष्यत ने गर्जना की है। भारत का मार्ग बदलने वाला है। वह अब बाहुबल की महिमा पहचान गया है-

कुछ सोच रहा है समय राम में थम कर, है ठहर गया सहसा इतिहास सहम कर।
सदियों में शिव का अचल ध्यान डोला है, तोपों के भीतर से भविष्य बोला है।
चोटें पड़ती यदि रहीं, शिला टूटेगी, भारत में कोई नई धार फूटेगी।[12]

यह नई धारा कौन-सी है, इसका निरुपण कवि ने परशुराम के अवतरण के प्रसंग में किया है। चीनी आक्रमण को कवि इतिहास की बहुत बड़ी घटना मानता है और उसका विश्वास है कि-

अंबर में जो अप्रतिम क्रोध छाया है, पावक जो हिम को फोड़ निकल आया है।
वह किसी भांति भी वृथा नहीं जायेगा, आयेगा, अपना महाबीर आरेगा।[13]

यह महावीर प्रज्वलित-विभासित पुरुषत्व का प्रतीक होगा। वह विष्णु और शंकर का सम्मिलित अवतार होगा। वह पाप के साथ समझौता नहीं करेगा और राष्ट्रधर्म की रक्षा के निमित्त तलवार उठाने में उसे संकोच नहीं होगा। दिनकर जी ने जिस परशुराम का आवाहन किया है, वह शायद फौजी तानाशाह (मिलिटरी डिक्टेटर) है। किन्तु, कविता में इस आक्षेप के प्रमाण नहीं मिलते। त्रेता के परशुराम ने भी राज्य तो बहुत से जीते थे। लेकिन राजमुकुट उन्होंने कभी नहीं पहना था। राष्ट्रकवि की कल्पना का परशुराम भी शासन का भार संभालने को नहीं आयेगा। इस युग के राजाओं को आश्वस्त करते हुए नेफा का सिपाही कहता है कि-

मत डरो, संत वह मुकुट नहीं मांगेगा, धन के निमित्त वह धर्म नहीं त्यागेगा।
तुम सोओगे, तब भी वह ऋषि जागेगा, ठन गया युद्ध तो बम-गोले दागेगा।[14]

परशुराम की कल्पना वीर ऋषि की कल्पना है। वह एक विचारधारा का प्रतीक है। और यह विचारधारा सर्वथा नवीन नहीं है। वह भारत के व्यक्ति-व्यक्ति के हृदय में घुमड़ रही है-

यह वज्र वज्र के लिए सुमों का सुम है, यह और नहीं कोई केवल हम तुम है।
यह नहीं जाति का, न तो गोत्र-बंधन का, आ रहा मित्र भारत भर के जन-जन का।[15]

इस परशुराम से भय केवल उन्हें होगा जो अहिंसा की दुहाई देकर अपनी कायरता को छिपा रहे हैं, जो सूर्य के स्थान पर नकली सूर्य बन कर चमक रहे हैं और जनता को जो इन्द्रधनुष की सुन्दरता इशारों से दिखातें हैं, उस इन्द्रधनुष तक पहुंचने

का रास्ता नहीं बना सकते। किन्तु, परशुराम -

रह जायेगा वह नहीं ज्ञान सिखला कर, दूरस्थ गगन में इन्द्रधनुष दिखला कर।
वह लक्ष्यु-बिन्दु तक तुमको ले जायेगा, उंगलियां थाम मंजिल तक पहुंचायेगा।[16]

परशुराम असल में, एक स्वप्न है, एक विचार है, भारतीय इतिहास का एक मोड़ है। वह गुरु भी हो सकता है, तानाशाह भी हो सकता है और भारत का प्रत्येक व्यक्ति भी हो सकता है।

कविता का पाँचवा खण्ड है वह है, जिसमें परशुराम के जीवन-दर्शन और उनकी शिक्षाओं का निरुपण किया गया है। संक्षेप में इस दर्शन का स्वरूप यह है कि पाँच तत्वों में से सबसे प्रमुख तत्व है वह्‌नी है। सत्य नही ग्राह्य है जो उद्दीपन सिखाता है। सूख के वर्जन का विरोध करता हो। जो सत्य वैरागी का सत्य है, जिस सत्य में राख लिपटी हुई है, उस सत्य को मनुष्य को स्वीकार नहीं करना चाहिए-

जो सत्य राख में सने, रुक्ष रुठे हैं, छोड़ो उनको, वे सही नहीं झूठे है।[17]

परशुराम भारत का आदर्श बदलना चाहते हैं। उनकी शिक्षा यह है कि आदर्श जीवन योगियों का नहीं, विजयी का होता है, अतएव, भारतवासियों को वैराग्य छोड़कर बाहुबल का भरोसा करना चाहिए-

वैराग्य छोड़ बाँहों की विभा संभालों, चट्टानों की छाती से दूध निकालो।
है रुकी जहाँ भी धार, शिलाएँ तोड़ो, पीयूष चन्द्रमाओं का पकड़ निचोडो।
चढ़ तुंग शैलशिखरों पर सोम पियो रे, योगियों नहीं, विजयी के सद्रश्य जियो रे।[18]

उपशम, वैराग्य, शान्ति, विनय और अक्रोध की उपासना करते-करते संसार में भारत का वही हाल हो गया, जो हाल ग्रामों में पुरोहितों का होता है। गाँव का पुरोहित सबसे निर्धन और सबसे कमजोर होता है। गाँव के लोग पुरोहित को प्रणाम तो अवश्य करते हैं, किन्तु सम्मानित होने पर भी पुरोहित दुर्बल ही रह जाता है। यही हाल संसार के बीच भारत का भी है-

उपशम को ही जो जाति धर्म कहती है, शम, दम, विराग को श्रेष्ठ कर्म कहती है।
धृति को प्रहार, क्षान्ति को वर्ग कहती है, अक्रोध, विनय को विजय मर्म कहती है।
अपमान कौन जिसको वह नहीं सहेगी, सब को असीस सब का बन दास रहेगी।[19]

परशुराम का कहना है कि आत्मा के आवास के लिए शरीर को बलवान होना चाहिए, धर्म के पालन के लिये भी मनुष्य को शरीर से शक्तिशाली होना चाहिए। जो दुर्बल और क्षीण हैं उनके लोक और परलोक दोनों नष्ट हो जाते हैं। शांति के विषय में

परशुराम का विचार है कि वह केवल शांति-शांति चिल्लाने से नहीं आयेगी। सोचना यह होगा कि ओ लोग विश्व-जनमत की उपेक्षा करके लड़ाइयां छेड़ने को तैयार है, उनके साथ हमें क्या बर्ताव करना चाहिए। परशुराम भारतवासियों को किसी भी भुलावे में रखना नहीं चाहते। उनकी सीधी सलाह है-

एक ही पन्थ, तुम भी आघात हनो रे, मेषत्व छोड़ मेषो, तुम व्याघ्र बनो रे।
एक ही पंथ अब भी जग में जीने का, अभ्यास करो छागियों, रक्त पीने का।[20]

जब भारतीय ज्ञानपीठ के निदेशक लक्ष्मीचंद जैन ने यह कविता सुनीं तब उन्होंने कवि से कहा- "छागियों करो अभ्यास रक्त पीने का इस पंक्ति को आप निकाल ही दें, तो अच्छा रहेगा। बाद में चलकर आपको इसके लिए पछताना पड़ेगा।"21 इस पर दिनकर ने उन्हें जवाब दिया- "यह पंक्ति बड़ी अनूठी है। इससे आगे चलकर आपको यह सुचना मिलेगी की एक बार भारतवर्ष को इतना क्रोध चढ़ा था कि उसका एक कवि इस प्रकार की पंक्ति लिखने में भी लज्जित नहीं हुआ।"22 इस कविता में दिनकर का क्रोध उपनिवेशवाद के खिलाफ़ क्रोध से भी कहीं अधिक है।

परशुराम की दृष्टि में शान्तिवाद बिल्कुल सुरक्षित आन्दोलन नहीं है। ये आन्दोलन किसी न किसी शस्त्र-सुसज्जित देश से उठते हैं और उनका लक्ष्य यह होता है कि संसार के देश हमारी हिंसा का समर्थन तथा दूसरों की हिंसा का विरोध करें। शांतिवादी आन्दोलन का कभी-कभी यह लक्ष्य भी होता है कि पड़ोस के देश शान्तिवाद के सपने में पड़कर कमजोर हो जाएँ जिससे बलशाली पड़ोसी उन्हें मजे से अपने अधीन कर लें, इसीलिए परशुराम कहते हैं-

जब शान्तिवादियों ने कपोत छोड़े थे, किसने आशा से नहीं हाथ जोड़े थे?
पर हाय, धर्म यह भी धोखा है, छल है, उजले कबूतरों में भी छिपा अनल है।
पंजों में इनके धार धरी होती है, कईयों में तो बारुद भरी होती है।[23]

सावित्री सिन्हा 'युगचारण दिनकर' में लिखती हैं, "दिनकर की समष्टि- चेतना की अंतिम रूप से परिणित हुई है 'परशुराम की प्रतीक्षा' में। चीन के आक्रमण के प्रति दिनकर की प्रतिक्रियाओं ने यह सिद्ध कर दिया है कि समय की माँग ढीली पड़ने पर चाहे वे 'रसवंती' में रमें, 'उर्वशी' की साधना करें, 'नील कुसुम' के प्रयोग करें अथवा सुभाषितकार बन कर हँसी और व्यंग्य की फुहारें उड़ाएँ, पर मूलतः वे युग के चारण हैं, समय की पुकार उनके रक्त में आग भर देती है, उनका गंभीर घोष आक्रोश के गर्जन में परिवर्तित हो जाता है। परशुराम की प्रतीक्षा चीनी आक्रमणकाल में

लिखी गयी सबलतम कविता है। उसकी प्रेरणा आक्रोशमूलक है इसमें कोई संदेह नहीं है, पर जब किसी देश की जनता का आक्रोश सामूहिक और संगठित रूप से व्यक्त होता है तभी क्रांतियों का जन्म होता है। 'परशुराम की प्रतीक्षा' चीन के आक्रमण की तात्कालिक प्रतिक्रिया मात्र नहीं है। उसमें भारतवर्ष की राजनीति और जीवन-दर्शन के प्रतिदिन गिरते हुए स्तर के कारणों का अध्ययन, मनन और विवेचन करके दिनकर ने अपनी पुरानी मान्यताओं का पुनरावर्तन किया है।"[24]

समग्र रूप से यह कहा जा सकता है कि 'परशुराम की प्रतीक्षा' अपने समय के प्रति सजग और सचेत कवि की महत्वपूर्ण रचना है। पड़ोसी देश के हाँथों पराजय की पीड़ा और आक्रोश की मनः स्थिति में लिखी गई यह कविता अपने राष्ट्र की मौजूदा स्थिति और इसके लिए जिम्मेदार लोगों के चरित्र की निर्मम समीक्षा तो करती ही है, संकट की इस घड़ी में अपनी परंपरा को पुनर्परिभाषित भी करती है। भारतीय परंपरा में परशुराम नैतिकता, बौद्धिकता और बाहुबल के समन्वित प्रतीक हैं। दिनकर इस देश के जन-जन में 'परशुराम भाव' के उदय की प्रतीक्षा करते हैं ताकि वे आंतरिक एवं बाह्य दोनों ही प्रकार के शत्रुओं को मुंहतोड़ जवाब देकर अपने खोए हुए गौरव, गर्व और उत्साह को पुनः प्राप्त कर सकें।

संदर्भ

1. विजेंद्र नारायण सिंह, भारतीय साहित्य के निर्माता रामधारी सिंह दिनकर, साहित्य अकादेमी- 2015, पृष्ठ संख्या (26)
2. सावित्री सिन्हा, युगचारण दिनकर, सेतु प्रकाशन दिल्ली- 2019, पृष्ठ संख्या (161)
3. वही, पृष्ठ संख्या (162)
4. रामधारी सिंह दिनकर, परशुराम की प्रतीक्षा, उदयाचल एवं लोकभारती प्रकाशन, इलाहबाद-2016 पृष्ठ संख्या (10)
5. वही, पृष्ठ संख्या (13)
6. वही, पृष्ठ संख्या (15)
7. वही, पृष्ठ संख्या (18)
8. वही, पृष्ठ संख्या (19)
9. वही, पृष्ठ संख्या (21)
10. वही, पृष्ठ संख्या (23)
11. वही, पृष्ठ संख्या (24)

12. वही, पृष्ठ संख्या (25)
13. वही, पृष्ठ संख्या (27)
14. वही, पृष्ठ संख्या (29)
15. वही, पृष्ठ संख्या (31)
16. वही, पृष्ठ संख्या (33)
17. वही, पृष्ठ संख्या (33)
18. वही, पृष्ठ संख्या (34)
19. वही, पृष्ठ संख्या (34)
20. विजेंद्र नारायण सिंह, भारतीय साहित्य के निर्माता रामधारी सिंह दिनकर, साहित्य अकादेमी- 2015, पृष्ठ संख्या (26)
21. वही, पृष्ठ संख्या (26)
22. रामधारी सिंह दिनकर, परशुराम की प्रतीक्षा, उदयाचल एवं लोकभारती प्रकाशन, इलाहबाद-2016, पृष्ठ संख्या (35)
23. सावित्री सिन्हा, युगचारण दिनकर, सेतु प्रकाशन दिल्ली- 2019, पृष्ठ संख्या (162)

विभागाध्यक्ष, हिंदी
मारवाड़ी महाविद्यालय, दरभंगा, बिहार

मर्त्य मानव की विजय का तूर्य हूँ मैं

जिजीविषा की सांस्कृतिक प्रस्तुति के कवि रामधारी सिंह दिनकर

— आचार्य चन्दन

रामधारी सिंह 'दिनकर' को कैसे पढ़ा जाए; उनके मूल्यांकन के बिंदु क्या हो सकते हैं; राष्ट्र, समाज और संस्कृति के साथ रामधारी सिंह 'दिनकर' की रचना कैसे संवाद करती है? मैं भारतवर्ष के जिस क्षेत्र का रहने वाला हूँ, वहां अक्षर ज्ञान की प्राथमिक स्मृतियाँ दो रचनाकारों की रचनाओं से संदर्भित होती है। जीवन के सुख-दुख, लाभ-हानि, यश-अपयश तथा जरा-मरण के प्रश्न गोसाईं जी यानी तुलसीदास से संदर्भित होते हैं। जबकि शौर्य, साहस, स्वप्न, मानवीय गरिमा आदि के प्रश्न जिस रचनात्मक संदर्भ को समर्पित होते हैं, वे रामधारी सिंह 'दिनकर' हैं। गोस्वामी तुलसीदास के जीवित संपर्क में रहने वाली पीढ़ी से अपना संवाद नहीं हुआ है, किंतु वह पीढ़ी अपने संवाद में रही है जिन्होंने रामधारी सिंह 'दिनकर' को देखा, महसूस किया और कतिपय स्थितियों में उनसे संवाद भी किया है।

रामधारी सिंह 'दिनकर' एक ऐसी रचनात्मकता के रूप में हमारे सामने आते हैं जो बिना किसी औपचारिक पढ़ाई के भी लाखों लोगों के कंठाभरण बने हुए हैं। मैं बहुत गंभीरता से कहना चाहूंगा कि रामधारी सिंह 'दिनकर' को कवि विभागों, पाठ्यक्रमों और संगठनों ने नहीं बनाया है। वे हिंदी समाज के कवि हैं। मेरी तो हिंदी विभागों से एक शिकायत रहती है कि जो हिंदी समाज का कवि है वो हिंदी विभागों का कवि नहीं है और जो हिंदी विभाग का कवि है उसे हिंदी समाज में कोई नहीं पूछता। हिंदी के दो बड़े कवि मैथिलीशरण गुप्त और रामधारी सिंह दिनकर शैक्षणिक जगत में व्याप्त व्यापक मार्क्सवादी उपेक्षा के बावजूद हिंदी के बड़े कवि हैं। यहां एक प्रश्न है कि आखिर वह कौन-सा मूल्यबोध है जो रामधारी सिंह 'दिनकर' को शैक्षणिक जगत में मार्क्सवादी उपेक्षा के बावजूद टिके रहने की ताकत देती है?

इसकी पहचान ‘दिनकर’ के रचनात्मकता के सूत्रों को समझने में मदद करेगी।

23 सितम्बर सन् 1908 ई. के वर्तमान बिहार के सिमरिया घाट जो कि अब बेगूसराय जिले में है; में पैदा हुए रामधारी सिंह ‘दिनकर’ का जीवनकाल लगभग 65-66 वर्षों का रहा। इन 65-66 वर्षों में विद्यालय, महाविद्यालय, विश्वविद्यालय से लेकर संसद तक की यात्रा कुल मिलाकर एक सफल जीवन की यात्रा है। हिंदी साहित्य के इतिहास में ऐसे बहुत कम उदाहरण हैं जहां रचनात्मक सफलता और सामाजिक सफलता दोनों ही संवाद में चले हों। ‘दिनकर’ हिंदी के ऐसे विरले रचनाकार हैं जिन्हें काव्य-प्रसिद्धि भी मिली और जागतिक सफलता भी मिली। पटना विश्वविद्यालय, पटना(बिहार) से रामधारी सिंह दिनकर सन् 1932 ई. में इतिहास में ऑनर्स किया और सन् 1933 ई. में वे प्रधानाध्यापक भी नियुक्त हो गए। सन् 1934 ई. में बिहार सरकार ने उन्हें सब-रजिस्ट्रार बनाया। लगभग नौ वर्षों तक वे इस पद पर रहे। इसी कालखण्ड में उनकी 3 रचनाएं सामने आ गई- सन् 1935 ई. में ‘रेणुका’, सन् 1936 ई. में ‘हुंकार’ और सन् 1939 ई. में ‘रसबंती’ काव्य-संग्रह का प्रकाशन होता है। इन तीनों रचनाओं का संदर्भ देश के स्वाभिमान, आत्मगौरव और सत्वबोध का है। अंग्रेज साहब बहादुर को यह समझते देर नहीं लगी कि मामला कुछ दूसरा है। इसलिए इन चार वर्षों में उनका बाईस बार तबादला हुआ। सन् 1947 ई. में भारत से अंग्रेजों के जाने के बाद रामधारी सिंह ‘दिनकर’ वर्तमान मुजफ्फरपुर के बिहार विश्वविद्यालय में प्रध्यापक नियुक्त हुए। यही हिंदी विभाग के विभागाध्यक्ष भी हुए। रामधारी सिंह दिनकर को कांग्रेस ने सन् 1952 ई. में राज्यसभा में भेजा। दिनकर बारह वर्ष राज्यसभा सदस्य रहे। भागलपुर विश्वविद्यालय, बिहार के कुलपति भी रहे। दिनकर को पद्मभूषण भी मिला। ‘संस्कृति के चार अध्याय’ नामक पुस्तक पर उन्हें साहित्य अकादमी पुरुस्कार मिला और ‘उर्वशी’ के लिए रामधारी सिंह दिनकर को भारतीय ज्ञानपीठ पुरुस्कार मिला। यह सब बताने के पीछे मेरा एक उद्देश्य है कि सत्ता और सफलता के हर मोड़ पर पुरस्कृत होने के बावजूद ‘दिनकर’ की कविता अपनी सांस्कृतिक तपिश मद्धिम नहीं पड़ने देती है। हमारे समय में हिंदी कविता में ऐसा कोई उदाहरण नहीं है। दिनकर हमारे समय के एक ऐसे रचनाकार के रूप में सामने आते हैं जो अपनी पूरी चेतना में भारतीय सांस्कृतिक प्रतीकों को, पौराणिक प्रतीकों को, ऐतिहासिक प्रतीकों को समाज और राष्ट्र की जिजीविषा के अनुसार संदर्भवान बनाते हैं। ऐसे कई उदाहरण हैं जहां स्पष्ट होता है कि रामधारी सिंह ‘दिनकर’ अपनी

सांस्कृतिक चेतना की अभिव्यक्ति में न तो तत्कालीन नेतृत्व की परवाह करते हैं और न ही सत्ता की परवाह करते हैं। सच तो यह भी है कि साहित्य अगर आप में स्वाभिमान नहीं देता है तो वह किस काम का है? रामधारी सिंह दिनकर की रचनात्मकता सत्ता और समाज में समाज को चुनती है। इतिहास और राजनीति के निर्णायक क्षणों में रामधारी सिंह दिनकर की कविता जनता के साथ खड़ी है। दिनकर की कविता का लोक अपनी सांस्कृतिक विरासत की सातत्यता से निकला हुआ है। यह लोक जिजीविषा से आकंठ पूर्ण लोक हैं।

सन् 1962 ई. एक ऐसा वर्ष है जो रामधारी सिंह 'दिनकर' की रचनात्मकता में भाष्य के रूप में है। सन् 1962 ई. में चीन से भारत की हार के बाद जब दिनकर संसद में बोलने के लिए खड़े हुए तो उन्होंने अपने ही नेतृत्व को संबोधित करते हुए जो बात कही थी वो बहुत ध्यान देने योग्य है-

"घातक है, जो देवता-सदृश दिखता है,
लेकिन, कमरे में गलत हुक्म लिखता है,
जिस पापी को गुण नहीं; गोत्र प्यारा है,
समझो, उसने ही हमें यहाँ मारा है।"

ये पंक्तियाँ रामधारी सिंह दिनकर जवाहरलाल नेहरु को संबोधित करते हुए कह रहे थे। यह सत्ता और समाज में समाज का चयन है। पुनश्चः यह भी कि,

"रे, रोक युधिष्ठिर को न यहाँ,
जाने दे उनको स्वर्गधीर,
पर, फिरा हमें गांडीव-गदा,
लौटा दे अर्जुन-भीम वीर।"

इन पंक्तियों में रामधारी सिंह दिनकर राष्ट्र के शौर्य का आराधन कर रहे है। रामधारी सिंह दिनकर से यह सिखा जा सकता है कि कविता कठिन समय में सच बोलने की कला का नाम है। यह वही व्यक्ति कह सकता है जो सत्ता के प्रति निर्मोही हो और देश से राग रखता हो। आप समझ सकते हैं कि तत्कालीन नेतृत्व कितना शक्तिशाली था, फिर भी दिनकर चुप नहीं है। एक ऐसे समय में जब बौद्धिकता चुनी हुई चुप्पियों को समर्पित हो गई हों; रामधारी सिंह दिनकर बहुत याद आते है। एक और संदर्भ है और यह राज्यसभा के सूची में अंकित है। 20 जून सन् 1962 ई. को रामधारी सिंह 'दिनकर' राज्यसभा में बोलने के लिए खड़े हुए। उन्होंने अपने नेतृत्व

को कड़े स्वर में संबोधित करते हुए जो कहा वह ध्यातव्य है, «देश में जब भी हिंदी के संदर्भ में बात होती है तो देश के नेतागण ही नहीं बुद्धिजीवी भी हिंदी वालों को अपशब्द कहे बिना आगे नहीं बढ़ते हैं। पता नहीं इस परिपाटी का आरंभ किसने किया है, लेकिन मेरा ख्याल है कि इस परिपाटी को प्रेरणा प्रधानमंत्री से मिली है। पता नहीं 13 भाषाओं की क्या किस्मत है कि प्रधानमंत्री उनके बारे में कभी कुछ नहीं कहते लेकिन प्रधानमंत्री ने हिंदी के बारे में आज तक कभी कोई अच्छी बात नहीं कही है। मैं और मेरा देश पूछना चाहते हैं कि क्या आपने हिंदी को राष्ट्रभाषा इसलिए बनाया ताकि 16 करोड़ हिंदी भाषियों को रोज अपशब्द सुनाएंगे। क्या आपको पता भी है कि इसका दुष्परिणाम कितना भयावह होगा।" यह 'नेहरू जी' को संबोधित करते हुए 'दिनकर' जी कह रहे हैं। ये वही नेहरू जी हैं जो 'दिनकर' को राज्यसभा में लेकर आये थे। यह सुनकर पूरी राज्य सभा सन्न रह गई। ठसाठस भरी राज्य सभा में गहरा सन्नाटा था। इस मुर्दा चुप्पी को तोड़ते हुए 'दिनकर' ने फिर कहा कि, "मैं इस सभा खासकर प्रधानमंत्री नेहरू से कहना चाहता हूँ कि हिंदी की निंदा बंद की जाय। हिंदी की निंदा से इस देश की आत्मा को चोट पहुंचती है।"

पद्य में 'बारदोली-विजय संदेश'(सन् 1928 ई.) से 'उर्वशी' (सन् 1974 ई.) तक और गद्य में 'मिट्टी की ओर' से 'आधुनिक बोध' तक की रामधारी सिंह 'दिनकर' की यात्रा स्मृतिभ्रंश के विरुद्ध भारतीय जिजीविषा का एक प्रामाणिक दस्तावेज है। एक समाज के रूप में हम एक स्मृतिभ्रंश समाज हैं। स्मृतिभ्रंश अर्थात् भूलने की बीमारी। हमारी लंबी गुलामी और दैन्य का कारण यही स्मृतिभ्रंश है। रामधारी सिंह 'दिनकर' की रचनात्मकता इसी स्मृतिभ्रंश का प्रतिपक्ष है। दिनकर की कविता शौर्य और जिजीविषा का उद्घोष है -

"मर्त्य मानव की विजय का तूर्य हूँ मैं,
उर्वशी! अपने समय का सूर्य हूँ मैं।"

यह साहस भारतीय शौर्य की स्मृति के कारण ही संभव है। मुझे एक अंग्रेजी उपन्यासकार याद आ रहे हैं, वी.एस. नायपॉल। नायपॉल जी को नॉबेल पुरस्कार भी मिला। पूरा नाम था विद्याधर दुबे सूरज प्रसाद नेपाल। स्वयं का नाम था विद्याधर, पिता का नाम सूरज प्रसाद दुबे। पूर्वांचल से त्रिनिदाद गए थे। नेपाल स्ट्रीट पर आशियाना बना। पूरा नाम बना विद्याधर दुबे सूरज प्रसाद नेपाल। नेपाल जब लंदन गए तो नायपॉल हो गए। इनकी एक पुस्तक है 'इंडिया: अ वुंडेड

सिविलाइज़ेशन'। नायपॉल की एक स्थापना है कि दुनिया में इस्लाम जहां-जहां भी गया वहां स्थानीय सभ्यताओं को नष्ट करने और मिटाने का दोषी है। इसके लिए वे इस्लाम को कई बार माफी माँगने की सलाह भी देते हैं। मैं जब यह कह रहा हूँ तो मेरा संकेत इस ओर है कि रामधारी सिंह 'दिनकर' की रचनात्मकता स्मृतिभ्रंश से उपजी भारतीय समाज के दोषों का परिहार करने की रचनात्मक प्रयास है। यह सृजनात्मक प्रयास मानवभाव, वैष्णवभाव और राष्ट्रभाव की त्रिकोणीयता में विकसित होता है। "असल में हमारी एकता भूगोल और इतिहास की एकता है तथा उसका एक आधार हमारा शासन-विधान भी है। लेकिन इस स्थूलता से ऊपर जो संस्कृति का सूक्ष्म स्तर है, उस पर हमारी एकता अभी खूब सुदृढ़ और सुस्पष्ट नहीं है। हमने जो एकता हासिल की है, वह सिर्फ तन की एकता है, मन की एकता के लिए हमें अभी बहुत प्रयास करना बाकी है। भाषा को लेकर खड़े होनेवाले झगड़े और प्रान्तीय विशिष्टताओं को लेकर उठनेवाले विवाद यह साफ बतला रहे हैं कि भारत का मन अभी कई हिस्सों में फटा हुआ है और सच्ची राष्ट्रीय एकता को जन्म देने के लिए जिस कुर्बानी की जरूरत है, वह कुर्बानी हम नहीं दे पा रहे हैं।"

रामधारी सिंह 'दिनकर' जी भारतीय इतिहास और पौराणिक प्रतीकों का रचनात्मक प्रयोग वर्तमान को सशक्त और समर्थ बनाने के लिए करते हैं। 'रश्मिरथी' की शुरुआती पंक्तियाँ इसका प्रमाण हैं -

"जय हो जग में जले जहां भी, नमन पुनीत अनल को,
जिस नर में भी बसे हमारा, नमन तेज को बल को।
किसी वृंत पर खिले विपिन में, पर नमस्य है फूल,
सुधी खोजते नहीं, गुणों का आदि, शक्ति का मूल। ...
तेजस्वी सम्मान खोजते नहीं गोत्र बतला के,
पाते हैं जग से प्रशस्ति अपना करतब दिखला के।
हीन मूल की ओर देख जग गलत कहे या ठीक,
वीर खींच कर ही रहते हैं इतिहासों में लीक।"

इन पंक्तियों के नायक महाभारत के पात्र 'कर्ण' हैं। जो संदेश है वह स्वातन्त्र्योत्तर भारत का है। हिंदी कविता में भूषण के बाद शौर्य, साहस, संस्कृति और जिजीविषा के सर्वाधिक सशक्त स्वर के रूप में हम 'दिनकर' को पढ़ते हैं -

"क्षमा शोभती उस भुजंग को जिसके पास गरल हो,
उसको क्या जो दंतहीन विषरहित विनीत और सरल हो।"

या 'रश्मिरथी' की पंक्तियाँ -

"पत्थर-सी हो मांसपेशियां लोहे से भुजदंड अभय,
नस-नस में हो लहर आग की तभी जवानी पाती जय।"

रामधारी सिंह 'दिनकर' भारतीय मन को राष्ट्रीय गौरव, अभिमान और स्वाभिमान को संदर्भित करने की एक रचनात्मक प्रयास के रूप में हमारे सामने आते हैं। हम न भूलें कि ब्रिटिश पराधीनता से सद्यः मुक्त हुए भारत और सन् 1962 ई. के युद्ध में चीन से भारत के हार के समय के रचनाकार हैं रामधारी सिंह 'दिनकर'। स्वाधीनता संग्राम के दिनों में मुक्ति का स्वप्न देखने, अंग्रेजी सत्ता से मुक्ति पाने और भारतीय अंग्रेजों के ताकतवर होने तथा चीन के दंश को महसूस करने का रचनात्मक प्रभाव दिनकर की कविता पर है। यही कारण है कि उनको ऊहापोह है –

"किसको नमन करूँ मैं भारत,
किसको नमन करूँ मैं।"

और इसी प्रश्न का उत्तर भी वे खोजते हैं कि –

"कलम आज उनकी जय बोल
जला अस्थियाँ बारी-बारी
चिटकाई जिनमें चिंगारी
जो चढ़ गये पुण्यवेदी पर
लिए बिना गर्दन का मोल
कलम आज उनकी जय बोल।"

रामधारी सिंह 'दिनकर' की एक पुस्तक है - भारतीय एकता। यह पुस्तक लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद(प्रयागराज) से सन् 1971 ई. में प्रकाशित हुई। इस पुस्तक की भूमिका में 'दिनकर' लिखते हैं कि, "स्वतंत्रता तो हमने प्राप्त कर ली लेकिन राष्ट्रीय एकता का प्रश्न हमारे सामने ज्वलंत रूप में खड़ा है। हमारे सारे इतिहास की शिक्षा यही है कि हम स्वतंत्र तभी तक रहते हैं जब हम एक रहते हैं। जब भी हमारी एकता खिड़की से निकल भागती है हमारी स्वतंत्रता दरवाजा खोल कर निकल जाती है।" लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद(प्रयागराज) से रामधारी सिंह दिनकर की एक पुस्तक प्रकाशित हुई 'सहित्यमुखी। इस पुस्तक के पृष्ठ 60 पर

दिनकर उल्लेख करते हैं कि, “अगर हम एक राष्ट्र बनकर जीना चाहते हों तो उसके साधन हमारे सामने मौजूद हैं। अगर हम टूट कर बिखरना चाहें तो दुर्भाग्यवश उसकी भी सामग्रियों की कमी हमारे यहां नहीं है। भारत की राष्ट्रीयता प्रकृति और इतिहास पर अवलंबित है। उसका दारोमदार हमारी इच्छा और अपनी संकल्प-शक्ति पर है।” इसी भाव से प्रेरित होकर रामधारी सिंह दिनकर अयोध्या, मिथिला, कपिलवस्तु, नालंदा, मगध इत्यादि के ध्वंसावशेष पर आँसू बहाते हैं। पुनः उस अतीत की ओर लौटने की आशा प्रकट करते हैं। «भारतीय जनता की एकता के असली आधार भारतीय दर्शन और साहित्य हैं जो अनेक भाषाओं में लिखे जाने पर भी अन्त में जाकर एक ही साबित होते हैं।” रामधारी सिंह दिनकर की एक कविता है -‘मंगल-आह्वान’। इस कविता में दिनकर कहते हैं -

“गत विभूति, भावी की आशा,
ले युगधर्म पुकार उठे,...
वर्तमान के चित्रपटी पर
भूतकाल संभाव्य बने।”

23 दिसंबर सन् 1933 ई. के यह वाक्य ‘दिनकर’ जी की राष्ट्रदृष्टि को स्पष्ट करता है। रामधारी सिंह दिनकर कहते हैं कि कवि की दृष्टि में नए भारत का भाग्यपुरुष परशुराम के रूप में स्वदेश रक्षक की भूमिका निभाएगा-

“है एक हाथ में परशु, एक में कुश है,
आ रहा नए भारत का भाग्यपुरुष है।”

‘परशुराम की प्रतीक्षा’ का यह वाक्य चीन के आक्रमण के बाद का वाक्य है। चीन के विश्वासघात ने दिनकर को बहुत गहरे प्रभावित किया था। यह प्रभाव कालांतर में तत्कालीन भारतीय नेतृत्व से मोहभंग का कारण बना था। इसी मोहभंग के कारण दिनकर कहते हैं कि - *“सिहांसन खाली करो कि जनता आती है।”*

शायद रचना की प्राथमिक शर्त भी यही है कि वह आम आदमी की जिजीविषा, समाजहित और राष्ट्रहित को बड़ा माने। यह भावबोध इस तथ्य से निकलता है कि व्यक्ति से बड़ा संगठन होता है और संगठन से बड़ा राष्ट्र होता है। रामधारी सिंह ‘दिनकर’ अपनी पूरी चेतना में इस भाव-बोध को जीने वाले रचनाकार हैं।

कला संकाय
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

युगकवि दिनकर

— डॉ. विभा नायक

पद्मविभूषण राष्ट्रकवि रामधारी सिंह 'दिनकर' हिंदी साहित्य के एक ऐसे कवि, लेखक और निबंधकार हैं, जिनकी रचनाएँ इतिहास, राष्ट्रवाद, सांस्कृतिक जागरण और प्रेम का जीवंत दस्तावेज़ प्रस्तुत करती हैं। उनकी रचनाओं में युग सत्य का गंभीर स्वर है, जो प्रभावित करता है, प्रेरित करता है और सोए, निराश और किंकर्तव्यविमूढ़ मानस को पुनः ऊर्जा और आत्मविश्वास से भर देता है। यही कारण है कि 'दिनकर' को पढ़ना तत्कालीन समय, स्थितियों और परिस्थितियों को तो पढ़ना है ही लेखकीय रचना मानकों से भी परिचित होना है। युग के अनुरूप लेखक का लक्ष्य क्या होना चाहिए और उन लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए लेखक की साधना की क्या गहनता है, वह क्या कहता है, कैसे कहता है, कब कहता है और क्यों कहता है, इससे भी परिचित होना है। निश्चित तौर पर दिनकर को पढ़कर यह सबकुछ समझ आता है।

रामधारी सिंह 'दिनकर' का युग आज के युग से बहुत अलग था। आज़ादी से पूर्व का वो समय जब आज की तरह सुख-सुविधाएँ नहीं थीं। निपट गरीबी और दूसरी तरफ परतंत्रता का दमघोंटू माहौल, आज़ादी का संघर्ष। इन्हीं स्थितियों में बिहार के सिमरियाघाट में सन 1908 में भूमिहार ब्राह्मण परिवार में रामधारी सिंह जी का जन्म हुआ। दो वर्ष की आयु में ही पिता न रहे। परिवार में तीन भाई और उनमें बीच वाले श्री रामधारी सिंह जी। पारिवारिक स्थिति को देखते हुए यह तय हुआ कि रामधारी को ही पढ़ाया जाए। उधर रामधारी सिंह जी ने भी अपने दायित्व को भली भाँति समझा और एक ओर पठन-पाठन व दूसरी ओर पारिवारिक दायित्वों का भी भली भाँति निर्वहन करते रहे। निश्चित तौर पर उस दौर में शिक्षा ग्रहण करना सहज

कार्य नहीं था। अंग्रेज़ी व्यवस्था के विरोध में इन्हें अपना स्कूल भी छोड़ना पड़ा और फिर जिस स्कूल में दाखिला हुआ वह नदी के उस पार करीब 12 किलोमीटर दूर था, जहाँ पहुँचने के लिए घर से सुबह पाँच बजे निकलना पड़ता और तब जाकर 10 बजे वे स्कूल पहुँच पाते। ऐसी स्थितियों में जब कोई चीज़ जो सबसे पहले छूटती है वह है पढ़ाई, पर रामधारी सिंह उसे अपनी अंतरात्मा की तरह सहेजे रहे। यही कारण है कि मिडिल पास करने के बाद एन्ट्रेंस पास किया और 1932 में पटना से बी. ए. की परीक्षा उत्तीर्ण की और एक विद्यालय में अध्यापक के रूप नियुक्त हुए। 1934 से 1947 तक उन्होंने बिहार सरकार की सेवा में सब रजिस्ट्रार और प्रचार विभाग के उपनिदेशक के रूप में भी कार्य किया। 1950 से 1952 तक वे लँगट सिंह कॉलेज मुजफ्फरपुर में हिंदी के विभागाध्यक्ष भी रहे। 1963 से 1965 के बीच वे भागलपुर विश्वविद्यालय के कुलपति भी रहे और इसके बाद भारत सरकार के हिंदी सलाहकार भी रहे।

रामधारी सिंह की एक यात्रा यह थी जिसमें वह प्रशासनिक कार्यों से जुड़ रहे थे तो दूसरी ओर उनके अंदर का कवि और रचनाकार भी उत्तरोत्तर विकास कर रहा था। जनता का संघर्ष, पीड़ा और छटपटाहट रामधारी सिंह जी के काव्य में आक्रोश बन कर उभर रही थीं तो प्रेम और शृंगार भी एक नए रूप में जन्म ले रहे थे। इसीलिए एक और 'हिमालय', 'कुरुक्षेत्र' 'रश्मिरथी' और 'परशुराम की प्रतीक्षा' जैसी रचनाएँ लिखी गईं तो दूसरी ओर 'रसवंती' और 'उर्वशी' के माध्यम से 'कामाध्यात्म' का प्रतिपादन करतीं रचनाएं भी वे लिख रहे थे। 'उर्वशी' में वे कहते हैं-

इन्द्र का आयुध पुरुष जो झेल सकता है,
सिंह से बाँहें मिलाकर खेल सकता है,
फूल के आगे वही असहाय हो जाता
शक्ति के रहते हुए निरुपाय हो जाता
बिद्ध हो जाता सहज बंकिम नयन के बाण से
जीत लेती रूपसी नारी उसे मुस्कान से (उर्वशी, लोकभारती प्रकाशन)

तो वहीं 1962 में चीन से भारत की हार पर आक्रोशित दिनकर संसद में अपनी प्रसिद्ध कविता 'हिमालय' को उद्धृत करते हुए सत्तापक्ष को संबोधित करते हुए कहते हैं -

रे रोक युधिष्ठिर को न यहाँ, जाने दो उनको स्वर्ग धीर
पर फिरा हमें गाँडीव गदा,लौटा दे अर्जुन भीम वीर

1952 में जब भारत की प्रथम संसद का निर्माण हुआ तो दिनकर को राज्यसभा का सदस्य चुना गया था। 12 वर्षों तक दिनकर संसद सदस्य रहे, जहाँ उन्होंने सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक और भाषा संबंधी विषयों पर बेबाकी से अपनी बात कही। एक अन्य उदाहरण है जब नेहरू की नीतियों का विरोध करते हुए वे तल्ख अंदाज़ में कह उठते हैं-

घातक है जो देवता सदृश लगता है
बंद कमरे में बैठकर गलत हुक्म लिखता है
जिस पापी को गुण नहीं गोत्र प्यारा हो
समझो उसने ही हमें यहाँ मारा है (परशुराम की प्रतीक्षा)

दिनकर राष्ट्रवादी कवि थे। राष्ट्रहित उनके लिए सर्वोपरि था। इसलिए जहाँ कहीं भी वे गलत होते देखते, बेबाकी से अपनी बात कहते, अपनी राय रखते। अपने साहित्य सृजन प्रेरणा के संबंध में 'चक्रवाल' में दिनकर कहते हैं-

"जहाँ तक याद है कविता लिखने की प्रेरणा मुझमें नाटक और रामलीला देखकर उत्पन्न हुई। जब भी मैं नाटक वालों के मुख से गीत सुनता, दूसरे दिन उसी धुन से एक नया गीत बना लेता... वह भी प्रथम विश्वयुद्ध की समाप्ति के ही आस-पास की बात है। सन् 1920 में कानपुर में प्रताप में एक भारतीय की आत्मा की वह कविता छपी, जिसे लोकमान्य तिलक की मृत्यु पर लिखा गया था। इस कविता का मुझ पर अत्यंत प्रभाव पड़ा। पत्र-पत्रिकाओं से रस पाकर जब मैं समकालीन काव्य पुस्तकों की ओर बढ़ा, तब मुझे 'भारत भारती' मिली। 'जयद्रथ वध' और 'शकुंतला' तथा 'किसान' पढ़ने का अवसर मिला एवं जब श्री रामनरेश त्रिपाठी का 'पथिक' निकला, मैं उस ग्रंथ में आपाद-मस्तक डूब गया।...कॉलेज में मुझमें शैली और वर्ड्सवर्थ दोनों के लिए अति उत्साह था और बांग्ला सीखकर मैंने रवींद्र और नज़रूल से भी परिचय बढ़ा लिया था। पीछे जब मैं नौकरी करने लगा, तब मैंने उर्दू सीखी और इकबाल तथा जोश का मैं भक्त बन गया।" (चक्रवाल पृष्ठ 27)

गहन अध्ययन और पठन-पाठन रामधारी सिंह जी की दिनचर्या का अभिन्न अंग थे। विविध तरह का समकालीन और पौराणिक साहित्य पढ़ते हुए संस्कृति के सार-तत्व को रामधारी सिंह गहनता से समझ रहे थे। लोक की आत्मा में रमे राम

का भी उन पर गहरा प्रभाव था। 'रामचरितमानस' जैसे उनकी आत्मा का अंश था। बचपन से ही उनके घर पर 'रामचरितमानस' का पाठ होता था। जिसने उनके मस्तिष्क पर भारतीय संस्कृति और संस्कारों की गहरी छाप छोड़ी। यही संस्कार थे, जो रामधारी सिंह जी को निरंतर व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन के दायित्व-निर्वहन के लिए प्रेरित करते रहे। संभवतः यही कारण था कि उनकी अंतिम कविता लिखी गई तो राम पर-

राम तुम्हारा नाम कंठ में रहे
हृदय जो कुछ भेजो वो सहे,
दुख से त्राण नहीं माँगूँ
माँगूँ केवल शक्ति दुख सहने की
दुर्दिन का भी मान
तुम्हारी दया अकातर ध्यान मग्न रहने की...

जैसा कि स्पष्ट ही है कि वह युग आज़ादी के संघर्ष का युग था। राष्ट्र हित में अपना सर्वस्व समर्पित कर आत्मोत्सर्ग करने वालों की संख्या निरंतर बढ़ती जा रही थी। गांधी जी का असहयोग आंदोलन भारतीय समाज को मथ रहा था। ऐसे समय में रामधारी सिंह का आक्रोश भी फूट पड़ा। इस विद्रोह में इनके प्रांत की दारुण परिस्थितियों ने भी आग में घी का काम किया। इस संबंध में डॉ. नगेन्द्र का मत है-

दिनकर ऐसे प्रांत का कवि है, जहाँ निर्धनता अट्टहास करती है। वर्ग वैषम्य भी बिहार से अधिक शायद रियासतों में ही मिले। इसके अतिरिक्त इन बिचारे भूखे-नंगों को प्रकृति के खूनी दांतों और पंजों का भी शिकार बनना पड़ता है। (विचार और अनुभूति पृष्ठ- 81)

गद्य और पद्य मिलाकर रामधारी सिंह जी के लगभग 61 ग्रंथ हैं। जिनमें उनकी अभिव्यक्ति शैली अप्रतिम है। पाठकों और श्रोताओं को बांध लेने की उनमें अदम्य क्षमता है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के शब्दों में-

दिनकर जी अहिंदी भाषियों के बीच हिंदी के सभी कवियों में सबसे ज्यादा लोकप्रिय थे और अपनी मातृभाषा से प्रेम करने वालों के प्रतीक थे।

यूँ तो रामधारी सिंह जी की प्रथम रचना 'बारडोली विजय' थी, जो कि सन 1928 में प्रकाशित हुई थी। किन्तु जिस रचना ने इनके क्रांति के स्वर को लोक

के बीच प्रतिष्ठित किया वह थी 1935 में प्रकाशित रचना 'रेणुका'। तीन खंडों में विभाजित इस काव्य-संग्रह में आक्रोश है, जिसने अंग्रेज़ी सत्ता को भी हिला कर रख दिया था। 'रेणुका' में कवि इस विषमतापूर्ण और पीड़ित संसार में समता और सुख लाने की चाह रखता है। जिस प्रकार 'साकेत' के राम इस भूतल पर स्वर्ग का संदेश लेकर नहीं आते बल्कि इस भूतल को ही स्वर्ग बना देना चाहते हैं। ठीक वैसे ही 'रेणुका' का कवि भी कल्पना का वैभव त्यागकर इसी धरा को अलका बनी देखने का आकांक्षी है।

व्योम कुंजों की परी अयि कल्पने, भूमि को निज स्वर्ग पर ललचा नहीं
उड़ न सकते हम धुमैले स्वप्न तक, शक्ति है तो आ बसा अलका यहीं (रेणुका)

कल्पनाओं से जीवन नहीं चलता किन्तु कल्पना यथार्थ की भूमि जरूर तय करती है और यथार्थ यह है कि नव निर्माण के लिए रूढ़ियों का ध्वंस आवश्यक है। ध्वंस के लिए विद्रोह और आक्रोश आवश्यक है। 'रेणुका' में संकलित कविता 'तांडव' में वे यही भाव व्यक्त करते हैं-

नाचो हे नाचो नटवर,
चंद्रचूड़, त्रिनयन, गंगाधर, आदि प्रलय, अवढर, शंकर
नाचो हे नाचो नटवर

यहाँ रामधारी सिंह जी का काव्य संग्रह 'हुंकार' भी उल्लेखनीय है। कह सकते हैं कि 'रेणुका' में कवि के मन में व्यष्टि और समष्टि का जो संघर्ष था, 'हुंकार' में वह शमित प्रतीत होता है। समष्टि व्यष्टि को पराभूत कर देती है और कवि की वाणी वर्तमान की दयनीय दशा पर विद्रोह कर उठती है-

समय ढूह की ओर सिसकते मेरे गीत विकल आए
आज खोजते उन्हें बुलाने वर्तमान के पल आए

रामधारी सिंह जी की रचनाओं में उत्तरोत्तर विकास और गांभीर्य है। 'रेणुका' के जिस विद्रोह में निराशा के कारण ध्वंस को आमंत्रण दिया जा रहा था, वहीं 'हुंकार' में विद्रोह आशा और नवीन प्रकाश से आलोकित हो उठा है-

धरकर चरण विजित शृंगों पर झण्डा वही उड़ाते हैं
अपनी ही उंगली पर जो खंजर की जंग छुड़ाते हैं
पड़ी समय से होड़, खींच मत तलवों के कांटे रुककर
फूँक फूँक चलती न जवानी, चोटों से बचकर, झुककर

विद्रोह और आक्रोश से भरे अपने लेखन के लिये रामधारी सिंह जी को मूल्य भी चुकाना पड़ा। 'रेणुका' और 'हुंकार' की कुछ रचनाएँ जब प्रकाश में आयीं, तो अंग्रेज प्रशंसकों को यह समझते देर न लगी कि उन्होंने हिंदी सलाहकार के रूप में एक गलत व्यक्ति को चुन लिया है। परिणाम यह रहा कि चार वर्ष में रामधारी सिंह जी का 22 बार तबादला किया गया। किन्तु उनकी कलम की धार में कोई कमी नहीं आई बल्कि और धारदार होती गई। राष्ट्रीयता और साम्यवाद इनकी कविता के मूल स्वर बनकर गूंज उठे। द्वापर युग की ऐतिहासिक घटना महाभारत पर आधारित 1946 में प्रकाशित उनका प्रबंध काव्य 'कुरुक्षेत्र' जैसे राजधर्म की सीख देता हुआ सामने आया-

वट की विशालता के नीचे जो अनेक वृक्ष
ठिठुर रहे हैं, उन्हें फैलने का वर दो
रस सोखता है जो मही का भीमकाय वृक्ष
उसकी शिराएं तोड़ो, डालियाँ कतर दो
इसी प्रकार-
छीनता हो स्वत्व तेरा और तू
त्याग तप से काम ले यह पाप है
पुण्य है विच्छिन्न कर देना उसे
बढ़ रहा तेरी तरफ जो हाथ है
एक अन्य स्थल पर वे कहते हैं-
वह कौन रोता है वहाँ,
इतिहास के अध्याय पर
जिसमें लिखा है नौजवानों के लहू का मोल है
प्रत्यय किसी बूढ़े कुटिल नीतिज्ञ के व्याहार का
जिसका हृदय इतना मलिन, जितना की शीर्ष वलक्ष है
जो आप तो लड़ता नहीं,
कटवा किशोरों को मगर
आश्वस्त होकर सोचता,
शोणित बहा लेकिन
गई बच लाज सारे देश की

रामधारी सिंह जी ने सामाजिक और आर्थिक समानता एवं शोषण के खिलाफ अपनी कलम चलाई। एक प्रगतिवादी और मानवतावादी विचारक के रूप में अपने विचार प्रस्तुत किए। उनका मानना था कि वर्ग संघर्ष और जातिवाद समाज के लिए घुन के समान हैं। सन 1952 में प्रकाशित अपने खंड काव्य 'रश्मिरथी' में उन्होंने इस पक्ष को बखूबी उतारा। राष्ट्रवाद के साथ दलित मुक्ति चेतना का स्वर भी यहाँ व्याप्त है। अपने इस खंड काव्य में दिनकर ने कर्ण को महाभारतीय कथानक से उठाकर नैतिकता और विश्वसनीयता की भूमि पर खड़ा कर उसे गौरव से विभूषित किया है। एक उदाहरण द्रष्टव्य है जहाँ कर्ण का दलित आत्मगौरव अर्जुन को चुनौती देने के बहाने पूरी व्यवस्था के जड़ प्रतिमानों को चुनौती देता है-

तूने जो जो किया उसे मैं भी दिखला सकता हूँ
चाहे तो कुछ नई कलाएं भी सिखला सकता हूँ।

इसी प्रकार कर्ण के जातीय परिचय की आड़ में कृपाचार्य द्वारा जब वैयक्तिकता के उद्घोष के स्वर को शमित करने का पुनः प्रयास होता है तो कर्ण का संचित आक्रोश फूट पड़ता है–

जाति जाति रटते जिनकी पूंजी केवल पाखंड
मैं क्या जानूँ जाति? जाति हैं ये मेरे भुजदंड
पढ़ो उसे जो झलक रहा है मुझमें तेज प्रकाश
मेरे रोम रोम में अंकित है मेरा इतिहास

देखा जाए तो रामधारी सिंह दिनकर की कलम का विषय पूरा समाज रहा है। उनकी कलम समाज को टुकड़ों में नहीं बल्कि संगठित रूप में देखने की पक्षपाती रही है। यही कारण है कि भारतीय संस्कृति के निर्माण में वे उन समग्र विशेषताओं का उल्लेख करते हैं, जिन्हें प्रायः अलग या विजातीय मान लिया जाता है। साहित्य अकादमी पुरस्कार से सम्मानित, 1956 में प्रकाशित अपनी पुस्तक 'संस्कृति के चार अध्याय'में वे कहते हैं-

नीग्रो, ऑष्टरिक, द्रविड और आर्य, मंगोल, यूनानी, यूची, शक, और आभीर तथा हूण और तुर्क इनका कहीं कोई पृथक अस्तित्व नहीं बचा। सब के सब हिंदी समाज के चारों वर्णों में बँटकर भली-भाँति पच-खप चुके हैं... (संस्कृति के चार अध्याय, उद्याञ्चल प्रकाशन पृष्ठ 96)

उत्तर, दक्षिण, पूर्व, पश्चिम देश में जहाँ भी लोग बसते हैं, उनकी संस्कृति एक है

एवं भारत की प्रत्येक क्षेत्रीय विशेषता हमारी इसी सामासिक संस्कृति की विशेषता है। दुर्भाग्य की बात है कि इस एकता को हम पूर्ण रूप से समझने में असमर्थ रहे हैं। यह कार्य राजनीति नहीं शिक्षा और साहित्य के द्वारा सम्पन्न किया जाना चाहिए। इस दिशा में साहित्य के भीतर कितने ही छोटे छोटे प्रयत्न हो चुके हैं, वर्तमान पुस्तक भी उसी दिशा में एक प्रयास है। (भूमिका, संस्कृति के चार अध्याय, उद्याञ्चल प्रकाशन)

अपनी इस पुस्तक में विस्तृत विवेचन और विश्लेषण के आधार पर रामधारी सिंह जी ने भारतीय संस्कृति की समीक्षा की है। भारतीय सांस्कृतिक इतिहास को उन्होंने चार भागों में बांटकर लिखा है। यहाँ उन्होंने यह भी स्पष्ट किया है कि भारत का आधुनिक साहित्य प्राचीन साहित्य से किन किन बातों में भिन्न है और इस भिन्नता का कारण क्या है? उनका यह भी विश्वास है कि भारतीय संस्कृति में चार बड़ी क्रांतियाँ हुई हैं और हमारी संस्कृति का इतिहास उन्हीं चार क्रांतियों का इतिहास है।

कुल मिलाकर कह सकते हैं कि दिनकर साहित्य के प्राण तत्व हैं लोक, शास्त्र और गहन सूक्ष्म अध्ययन-विश्लेषण। साथ ही लोक से जुड़ाव, हृदय का विस्तार और परपीड़ा की समानुभूति जो उनकी रचनाओं को पाठकों के सीधे हृदय में उतार देती है। यही तत्व उनकी रचनाओं को पठनीय बनाते हैं, सामयिकता का गुण प्रदान करते हैं और कालजयी भी बनाते हैं। दिनकर की वाणी में आज भी लोक का स्वर गूँजता है -

...सबसे विराट जनतंत्र जगत का आ पहुंचा
तैंतीस कोटि हित सिंहासन तय करो
अभिषेक आज राजा का नहीं प्रजा का है
तैंतीस कोटि जनता के सिर पर मुकुट धरो...
फावड़े और हल राजदंड बनने को हैं
धूसरता सोने से शृंगार सजाती है
दो राह समय के रथ का घर्घर नाद सुनो
सिंहासन खाली करो कि जनता आती है...

सहायक प्राध्यापिका
श्यामा प्रसाद मुखर्जी महिला महाविद्यालय,
दिल्ली विश्वविद्यालय

रामधारी सिंह 'दिनकर' के साहित्य में राष्ट्रीय चेतना

— डॉ. शुचिता शर्मा, डॉ. अनुराग त्रिपाठी

प्राचीनकाल से जीवन और काव्य में धर्म, दर्शन और अध्यात्म का जो प्रभाव चला आ रहा था, उसका अतिक्रमण करने का साहस मध्यकाल में भी नहीं हो सका था, किन्तु अंग्रेजों के सम्पर्क से परिस्थितियाँ बदलीं। उनके द्वारा देश पर आधिपत्य स्थापित कर लेने से भारतीय जीवन के सभी पक्षों पर व्यापक प्रभाव पड़ा। अंग्रेजों का प्रभुत्व केवल राजनीतिक परिवर्तन तक ही सीमित नहीं था, अपितु उसका प्रभाव देश के सामाजिक, सांस्कृतिक और आर्थिक क्षेत्र पर भी पड़ा। उनमें राष्ट्रीय चेतना का विकास हुआ। अंग्रेजों की शोषण नीति के साथ ही उन्हें अपनी कमजोरियों का भी बोध हुआ। देशवासियों के समग्र जीवन में एक नवीन चेतना अथवा नव-जागरण दिखाई पड़ा। इसका प्रभाव साहित्य पर भी पड़ा। साहित्य के क्षेत्र में नव-जागरण की यह प्रक्रिया ही आधुनिकता की बोधक है।

राष्ट्रीयता का सबसे प्रमुख तत्व देशानुराग है। राष्ट्र की भूमि, वहाँ की प्रकृति, भाषा और संस्कृति से गहरा अनुराग राष्ट्रीय चेतना में हुआ करता है। आधुनिक युग में भारतवर्ष में राष्ट्रीयता का विकास हुआ। सन् 1857 में प्रथम विद्रोह हुआ था। इस विद्रोह में राजाओं और सामन्तों के साथ-साथ सामान्य जनता की भी भूमिका प्रमुख थी। पहली बार भारतवर्ष में राष्ट्रीयता की भावना का उदय हुआ और इसका प्रभाव हिन्दी साहित्य पर भी दिखलाई पड़ा।

छायावाद-युग के कविता के समानान्तर राष्ट्रीय कविता का भी विकास हुआ। इस धारा के विकास की जीवनी शक्ति राष्ट्रीय स्वाधीनता आन्दोलन से प्राप्त हुई। उस युग में एक ओर तो गांधी जी का प्रभाव था और दूसरी ओर क्रान्तिकारियों का।

गांधी जी के प्रभाव से अहिंसात्मक विचारधारा वाली राष्ट्रीयता का विकास हुआ, जिसकी अभिव्यक्ति छायावादी काव्य में अधिकांशतः हुई। क्रान्तिकारियों के प्रभाव से हिंसात्मक क्रान्ति की भावना को बढ़ावा मिला। हिन्दी के जिन कवियों ने इस प्रभाव को ग्रहण किया, उनकी कविताओं में वर्तमान व्यवस्था को नष्ट-भ्रष्ट करने के लिए क्रान्ति का आवाहन किया गया। गाँधीवादी प्रभाव प्रमुखतः मैथिलीशरण गुप्त, माखनलाल चतुर्वेदी और सोहनलाल द्विवेदी की कविताओं में अभिव्यक्त हुआ है। क्रान्तिकारी भावना से परिपूर्ण राष्ट्रीय भावना को अभिव्यक्ति देने वाले कवियों में बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही' और रामधारी सिंह 'दिनकर' विशेष उल्लेखनीय हैं। दिनकर जी ने छायावाद-युग के अन्तिम वर्षों से ओजपूर्ण राष्ट्रीय भावना प्रधान काव्य-रचना प्रारम्भ की और वे अपने जीवन के अन्त (1974) तक निरन्तर काव्य-रचना में लगे रहे।

रामधारी सिंह 'दिनकर' हिंदी साहित्य के महान कवि, लेखक और चिंतक थे। उनकी काव्य रचनाएँ न केवल भावनात्मक थीं, बल्कि उनमें दार्शनिक और सांस्कृतिक चिंतन भी प्रमुखता से दिखता है। 'दिनकर' जी का साहित्यिक चिंतन भारतीय संस्कृति, वेद, उपनिषद, महाभारत, और रामायण जैसे प्राचीन ग्रंथों से प्रेरित था। उनके काव्य में भारतीय जीवन-मूल्यों, परंपराओं और सांस्कृतिक धरोहरों के प्रति गहन श्रद्धा झलकती है।

भारतवर्ष में राष्ट्रीय चेतना का विकास राजनीतिक, सांस्कृतिक और आर्थिक कारणों से हुआ था। उनके लिए भारतवर्ष एक भौगोलिक सीमा का भूभाग नहीं था, बल्कि एक सांस्कृतिक इकाई है। भारतभूमि, इस भूमि पर निवास करने वाली जनता और यहाँ के लोगों की संस्कृति ने दिनकर की राष्ट्रीय चेतना का निर्माण किया था। 'दिनकर' की राष्ट्रीयता का आधार है क्रान्ति चेतना 'रेणुका' काव्य-संग्रह में ही यह भाव प्रबल है। कवि आडम्बर को ध्वस्त करना चाहता है-

गिरे विभव का दर्प चूर्ण हो,
लगे आग इस आडम्बर में

'दिनकर' की राष्ट्रीयता को व्यक्त करने वाली उनकी प्रसिद्ध कविताओं में एक कविता 'हिमालय' है। इस कविता की प्रेरणा अतीत गौरव है। अतीत के गौरव का गान करता हुआ कवि वर्तमान युवा पीढ़ी के पौरुष का आह्वान करता है। इस कविता में क्रान्ति के भी बीज हैं-

कह दे शंकर से आज करें,
वे प्रलय नृत्य फिर एक बार।
सारे भारत में गूंज उठे,
हर हर बम का फिर महोच्चार।।

'दिनकर' और 'नवीन' की राष्ट्रीयता में प्रबल क्रान्ति की चेतना है। सन् 1936 के आस-पास भारत की स्वतंत्रता के लिए संघर्ष कर रहे युवकों के मन में विद्रोह था। इसके कारण वे विध्वंस के समर्थक हो गये थे। विद्रोही मन भावुकता से भरा था। देश स्वतंत्र होता है तो ठीक, अन्यथा सब कुछ नष्ट-भ्रष्ट हो जाय। 'नवीन' ने कहा था- 'कवि कुछ ऐसी तान सुना दे, जिससे उथल-पुथल मच जाये।' 'दिनकर' भी इसी तरह के विद्रोही कवि थे। 'दिनकर' की क्रान्ति चेतना को कुछ लोगों ने 'सस्ती भावुकता' और कुछ लोगों ने 'अभी क्रान्ति' कहा है। लेकिन 'दिनकर' को उनके देश और काल में रखकर न देखने के कारण ऐसा कह दिया जाता है। सन् 1936 से लेकर 1942 ई. तक भारत में विद्रोह की ज्वाला धधक रही थी। युवा पीढ़ी कुछ कर गुजरना चाहती थी। गाँधी के नेतृत्व को अस्वीकार करने वाले वामपंथी विचारधारा के युवक देश में विद्रोह की ज्वाला धधकाने में लगे हुए थे। देश की आजादी और शोषित जनता की मुक्ति के लिए कवि क्रान्ति चेतना से भर गया था।

'दिनकर' की राष्ट्रीयता की दूसरी विशेषता प्राचीन संस्कृति के प्रति आस्था और अतीत के गौरव का गान है। ये दोनों प्रवृत्तियाँ स्वच्छन्दतावादी काव्य की देन हैं। 'दिनकर' के काव्य में अपनी प्राचीन संस्कृति और इतिहास के प्रति गौरव की भावना वर्तमान को जगाने के लिए है। कवि कहता है कि अतीत गौरवशाली था। उससे प्रेरणा लेकर हम वर्तमान दुर्दशा को दूर करें। इसके विपरीत स्वच्छन्दतावादी वर्तमान समस्याओं से पलायन करने के लिए अतीत की ओर जाता है। उसके लिए अतीत स्वप्नलोक है। इसी के सहारे वह वर्तमान पीड़ाओं को भूलने का प्रयास करता है। 'दिनकर' का अतीत की संस्कृति और इतिहास से प्रेम उनका आत्मगौरव है। स्वच्छन्दतावादियों का अतीत से प्रेम वर्तमान दुर्दशा से उत्पन्न आत्महीनता है। 'इतिहास के आँसू' में कवि हतदर्प, पराभूत मन वालों को जगाता हुआ कहता है-

दूढ़ो उन्हें जगाओ जिनकी ध्वजा गिरी है।
जिनके सो जाने से सिर पर काली घटा घिरी है।।

'दिनकर' ने इतिहास के वीरों को वर्तमान की प्रेरणा के लिए याद किया है। नयी कविता में जो कार्य मिथकों के माध्यम से किया गया, 'दिनकर' ने वही कार्य पौराणिक और ऐतिहासिक प्रतीकों के माध्यम से किया है। बाद में स्वयं 'दिनकर' ने अपने प्रबन्ध काव्यों में मिथकों की रचना की है। मिथकों का रचयिता जीवन मूल्यों की गहराई में जाकर उनकी अभिव्यक्ति करता है। 'कुरुक्षेत्र', 'उर्वशी' और 'रश्मिरथी' में ऐसा ही है। 'कुरुक्षेत्र' और 'अंधायुग' को एक साथ रखकर देखा जा सकता है। 'कुरुक्षेत्र' में युद्ध, अहिंसा, व्यक्ति द्वेष और सामाजिक संघर्ष पर गहराई से विचार किया गया है। उसी गहराई से 'अंधायुग' में युद्धोत्तरकालीन व्यक्ति और समाज की कुंठा, अन्तर्विरोध और उसकी प्रतिशोध की भावना पर चिन्तन है। दोनों प्रबन्ध काव्यों के कवि आदर्शों की तलाश में जीवन के अन्तर्विरोधों की छानबीन करते हैं। 'दिनकर' की राष्ट्रीय विचारधारा वाली कविताओं में प्रतीकों की भरमार-सी होती है। ऐसा करते समय स्वतंत्रता के लिए संघर्ष करने वालों के नामों की वे झड़ी लगा देते हैं। कालक्रम या अन्य संगतियों पर उनकी दृष्टि नहीं जाती है। कवि ने भावावेग में ऐसा किया है। विक्रमादित्य के बाद ही रानी लक्ष्मीबाई और टीपू के पहले सुभाषचन्द्र बोस आ गये हैं-

झकझोरो झकझोरो महान सुप्तों को
टेरो-टेरो चाणक्य चन्द्रगुप्तों को।
विक्रमी तेज असि की उद्दाम प्रभा को
टेरो-टेरो रानी लक्ष्मी लक्ष्मीबाई को।।

x x x x

साहसी शूर के उस मतवाले को
टेरो-टेरो आजाद हिन्द वाले को।
खोजो टीपू सुल्तान कहाँ सोये हैं
वे भगत सिंह बलवान कहाँ सोये हैं।

चीनी आक्रमण से भारत के पराभव को देखकर 'दिनकर' विक्षुब्ध हो गये। अपने आक्रोश को उन्होंने 'परशुराम की प्रतीक्षा' में व्यक्त किया है। आरम्भिक कविताओं में जो अतीत प्रेम प्रगट हुआ था, वही 'परशुराम की प्रतीक्षा' में है। भारत के गौरवशाली अतीत का स्मरण करते हुए उन्होंने देशवासियों को विश्वास दिलाया है कि यह देश विकराल आग है। इसे अपनी मुट्ठी में भर लेने की शक्ति किसी में नहीं है-

जिसका सारा इतिहास तप्त जगमग है।
वीरता वह्नि से भरी हुई रंग-रंग है।
जिसके इतने बेटे रण झेल चुके हैं
शूली किरीच शूलों से खेल चुके हैं।
उस वीर जाति को बन्दी कौन करेगा
विकराल आग मुट्ठी में कौन भरेगा?

'दिनकर' की राष्ट्रीयता में वर्तमान युग-धर्म है। इसीलिए वे पौराणिक और ऐतिहासिक सन्दर्भों को वर्तमान समस्याओं के समाधान के लिए याद करते हैं। उनके पौराणिक और ऐतिहासिक पात्र अतिमानवीय रूप में दिखाई पड़ते हैं।

दिनकर ने अपनी रचनाओं में भारतीय दर्शन की गहराई को अभिव्यक्त किया। उनका मानना था कि वेदों और उपनिषदों में छिपा ज्ञान मानवता के लिए अमूल्य है। उन्होंने भारतीय संस्कृति के शाश्वत मूल्यों को आधुनिक संदर्भ में पुनर्परिभाषित किया और उन्हें प्रासंगिक बनाए रखने का प्रयास किया।

सन्दर्भ

1. हिन्दी साहित्य का इतिहास - डॉ. नगेन्द्र, मयूर पेपरबैक्स, नोएडा।
2. राष्ट्रवाणी - प्रो. वासुदेव सिंह, संजय बुक सेन्टर, वाराणसी।
3. निबन्ध और निबन्ध - डॉ. विश्वनाथ प्रसाद, संजय बुक सेन्टर, वाराणसी।
4. आधुनिक हिन्दी काव्य - सम्पादक डॉ. सत्यनारायण सिंह, विश्वविद्यालय प्रकाशन, चौक, वाराणसी।

अध्यक्ष, पारम्परिक तिब्बती चित्रकला विभाग
सहायक आचार्य, हिन्दी भाषा
केन्द्रीय उच्च तिब्बती शिक्षा संस्थान, सारनाथ, वाराणसी

रामधारी सिंह 'दिनकर' का राष्ट्रबोध एवं इतिहासबोध

— डॉ. विनोद कुमार जायसवाल, अंकुश गुप्ता

वि भारतीय राष्ट्र की अभिव्यक्ति भौगोलिक, राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक आदि न होकर एक महत्तम सांस्कृतिक जीवन मूल्य रूप में होती है। विश्व में निवसित मानव समाज मात्र भू-भाग के रूप में पहचाना जाता है जबकि भारतखण्ड का क्षेत्र भू-क्षेत्र से आगे बढ़कर राष्ट्र के रूप में अभिहित है। यूरोपीय सन्दर्भ में राष्ट्रीयता सामाजिक कट्टरता की निशानी है जबकि भारतीय राष्ट्रवाद (राष्ट्रभाव) देश को जोड़ने का साधन है। राष्ट्र की अवधारणा का प्रथम एवं द्वितीय आधार भूमि एवं जन है और भारतभूमि में भूमि और जन में परस्पर माता पुत्र के दिव्य सम्बन्ध की स्थापना है।

माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः। (अथर्ववेद 12,1,12)

इस भूमि पर भारत जन ने प्रथमतः निवास कर आदर्श स्थापित किया जिससे यह राष्ट्र भारतवर्ष कहलाया। राष्ट्र का तीसरा और प्रमुख आधार संस्कृति है। धर्म-दर्शन, खान-पान, वेशभूषा, कला, साहित्य, तीर्थ, आर्थिक एवं भौतिक तत्व, कृषि, पशुपालन, व्यापार, वाणिज्य आदि संस्कृति के घटक तत्व हैं। भारतवर्ष में यह सभी घटक मूल्य धर्मानुसार संचालित रहे हैं परन्तु उनकी अपनी क्षेत्रीय विशेषताएं भी है इसीलिए भारतीय संस्कृति अपनी एकता में विविधता धारण किए हुए है। वैदिक ऋचाओं में कहा गया है-

समानी व आकूतीः समाना हृदयानि वः
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति।। (ऋग्वेद 10,191,4)

अर्थात तुम्हारी भावना या संकल्प समान हो, तुम्हारा हृरदय समान हो। तुम्हारा मन समान हो, जिससे तुम लोग परस्पर सहकार कर सको।

इसी प्रकार,

सं गच्छध्वं सं वदध्वं सं वो मनांसि जानताम्।
देवा भागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते।। (ऋग्वेद 10,191,2)

अर्थात एक साथ चले, एक साथ बात करें, अपने मन को एक समान करें, जैसे पूर्व में देवताओं ने हमारी उपासना को एक साथ स्वीकार किया।

इसी भावना से मिलती जुलती राष्ट्र की परिभाषा भी है। राष्ट्र की परिभाषा एक ऐसे जन समूह के रूप में की जा सकती है जो एक क्षेत्र विशेष में रहकर समान परंपरा समान हितो तथा समान भावनाओं से बंधा हो और जिसमें एकता के सूत्र में सब को बांधने की क्षमता हो। संस्कृति ही वह डोर होती है जिसका अनुसरण कर प्रजा उसे राष्ट्र रूप में बांधती है। अपनी मातृभूमि के प्रति प्रेम भक्ति तथा जन के प्रति आत्मीयता का भाव सांस्कृतिक मूल्य है और यह तीनों मिलकर ही राष्ट्र का स्वरूप धारण करते हैं। राष्ट्र को सर्वोपरि मानकर जब कोई सिद्धांत या चिन्तन आकार लेता है तो वह विचार राष्ट्रवाद कहलाती है। भारतीय राष्ट्रवाद(राष्ट्रभाव) राष्ट्रवाद का वह विशेष रूप है जिसमें राष्ट्र को एक साझी संस्कृति के रूप में देखा जाता है। राष्ट्रवाद का अध्ययन किसी राष्ट्र विशेष के भूगोल आदि से उतना सम्बन्ध नहीं है जितना कि राष्ट्र के प्रति भावना से। विश्व में राष्ट्रवाद भले ही क्षेत्र या देश विशेष से सम्बन्ध रहा हो किंतु भारत के सन्दर्भ में उसे भारतवर्ष के प्रति भाव के माध्यम से समझना होगा। राज्य का उद्देश्य, राजधर्म, राष्ट्र की रक्षा, जनकल्याण, जनरंजन आदि राष्ट्रवाद के अध्ययन में सहायक कारक है और प्रायः इन सभी कारकों की चर्चा रामधारी सिंह ‘दिनकर‘ के साहित्य में मिल जाती है।

‘दिनकर’ सृजित साहित्यिक सन्दर्भ

रामधारी सिंह ‘दिनकर‘ एक महत्वपूर्ण साहित्यकार हैं जिन्होंने अपने साहित्यिक कार्यों के माध्यम से भारतीय राष्ट्रवाद और इतिहास को न केवल प्रकट किया बल्कि उसे मजबूती भी दी। उनका साहित्यिक योगदान न केवल हिंदी साहित्य में अमूल्य है बल्कि उन्होंने भारतीय स्वतंत्रता संग्राम और स्वतंत्रता के बाद के राष्ट्रवादी आंदोलन को भी प्रेरित किया।

स्वाधीनता संग्राम

रामधारी सिंह ‘दिनकर‘ स्वतंत्रता प्राप्ति से पहले अपनी कविताओं के माध्यम से भारतीय जनमानस को प्रेरित करते थे। कविताओं के माध्यम से ‘दिनकर‘ वह

प्राप्त करने का प्रयास करते थे जो स्वतंत्रता सेनानी स्वतंत्रता संग्राम में भाग लेकर पाना चाहते थे। सरदार बल्लभभाई पटेल द्वारा शुरू किए गए बारदोली सत्याग्रह के उपलक्ष्य में रामधारी सिंह 'दिनकर' ने बारदोली विजय नामक एक कविता लिखी थी। 'दिनकर' जी ने भारत के प्रथम गणतंत्र दिवस पर एक कविता लिखी सिंहासन खाली करो की जनता आती है जो बाद में जयप्रकाश नारायण द्वारा चलाये गए आंदोलन का प्रमुख नारा बन गई।

सदियों की ठण्डी बुझी-राख सुगबुगा उठी,
मिट्टी सोने का ताज पहन इठलाती है,
दो राह, समय के रथ का घर्घर-नाद सुनो,
सिंहासन खाली करो कि जनता आती है।

कलम आज उनकी जय बोल नामक प्रसिद्ध कविता रामधारी सिंह 'दिनकर' ने स्वाधीनता संग्राम सेनानियों को अपनी कृतज्ञता प्रकट करने के लिए रची थी।

कलम आज उनकी जय बोल
जला अस्थियाँ बारी बारी
चिटकाई जिसने चिंगारी,
जो चढ़ गये पुण्यवेदी पर
लिए बिना गर्दन का मोल
कलम, आज उनकी जय बोल

विभाजन विभीषिका का दर्द

रामधारी सिंह 'दिनकर' ने एक तरफ अपनी कविताओं के माध्यम से भारत को प्राप्त स्वतंत्रता का स्वागत किया तो वहीं दूसरी तरफ भारत के हुए विभाजन के प्रति उनका दर्द भी साफ दिखाई पड़ता है उन्होंने कांग्रेस और मुस्लिम लीग के बीच समझौता वार्ता के असफल होने पर 1938 ई0 में लिखा कि

हाथ की जिसकी कड़ी टूटी नहीं
पाँव में जिसके अभी जंजीर है,
बाँटने को हाय! तौली जा रही,
बेहया उस कौम की तकदीर है! (तकदीर का बँटवारा से)

15 अगस्त, सन् 1947 को स्वतंत्रता के स्वागत में रचित उनकी कविता अरुणोदय में भी उनका दर्द स्पष्ट झलकता है। उन्होंने लिखा है

आजादी नहीं, चुनौती है, है कोई वीर जवान यहाँ ?
हो बचा हुआ जिसमें अब तक मर मिटने का अरमान यहाँ ?
आजादी नहीं, चुनौती है, यह बीड़ा कौन उठाएगा?
खुल गया द्वार, पर, कौन देश को मन्दिर तक पहुँचाएगा?
है कौन, हवा में जो उड़ते इन सपनों को साकार करे?
कौन उद्यमी नर, जो इस खँडहर का जीर्णोद्धार करे?
मां का आंचल है फटा हुआ, इन दो टुकड़ों को सीना है,
देखें, देता है कौन लहू दे सकता कौन पसीना है? (अरुणोदय से)

सशक्त राष्ट्र का निर्माण

राष्ट्र का निर्माण होता है अपने राष्ट्रवासियों से और राष्ट्र सशक्त तभी होगा जब जनता सशक्त होगी। कवि दिनकर को इस बात की सदैव चिंता रहती थी कि किस तरह से सामान्य भारतीय जनमानस का विकास हो। राज्यसभा सांसद रहते हुए भी उन्होंने सदैव जनता की समस्याओं को संसद तक पहुंचाया। उन्होंने राजनीतिक दलों को आपसी बैर छोड़ देश हित के लिए कार्य करने को प्रेरित किया और लिखा

दायें-बायें का द्वंद आज भूलो रे,
सामने पड़े जो शत्रु, शूल छूलो रे। (परशुराम की प्रतीक्षा से)

उन्होंने इस बात पर जोर दिया कि देश का विकास दक्षिणपंथ या वामपंथ से नहीं बल्कि समस्या समाधान से होगा। उन्होंने देश में व्याप्त भ्रष्टाचार पर भी करार तंज कसा है।

मंत्री के शासन की यह महिमा विचित्र है,
जब तक इस पर रहो, नहीं दिखलाई देगी
शासन की हीनता, न भ्रष्टाचार किसी का।
किन्तु, उतरते ही उससे सहसा हो जाता
सारा शासन चक्र भयानक पुँज पाप का,
और शासकों का दल चोर नजर आता है।
जब तक मंत्री रहे, मौन थे, किन्तु, पदच्च्युत होते ही
जोरों से टूटने लगे हैं भाई भ्रष्टाचारों पर। (राजनीति से)

उन्होंने अपनी एनार्की कविता में लिखा है.

अजब हमारा यह तंत्र है

नकली दवाइयों का व्यापारी स्वतंत्र है
पुलिस करे जो कुछ पाप है।
चोर का जो चाचा है, पुलिस का भी बाप है,
अखबार मुक्त है छपने को
विज्ञापनदाताओं का मरम छुपाने को (एनार्की से)

रामधारी सिंह 'दिनकर' द्वारा सृजित यह कविताएं इसलिए महत्वपूर्ण है क्योंकि वह तत्कालीन सत्ताधारी पार्टी से ही राज्यसभा सांसद थे। इसके बावजूद भी वह सत्ता और शासन के खिलाफ लिख रहे थे, इससे प्रतीत होता है कि 'दिनकर' में अपना दायित्वबोध और राष्ट्रहित व्यक्तिगत स्वार्थ से कहीं ऊपर था।

अतीत का गौरव गान

रामधारी सिंह 'दिनकर' ने अपनी कविताओं से लोगों में अतीत के गौरव गान से आत्मसम्मान का भाव जगाया तथा शोषकों के विरुद्ध क्रांति छेड़ी। 'दिनकर' का आग्रह व्यवहारिकता और समाज में उपयोगिता पर आधारित था। वामपंथियों की तरह वे परंपराओं के प्रति नकारात्मक भाव नहीं रखते थे बल्कि परंपराओं से प्रेरणा लेने को कहते थे।

परंपरा को अंधी लाठी से मत पीटो।
उसमें बहुत कुछ है,
जो जीवित है,
जीवनदायक है,
जैसे भी हो,
ध्वन्स से बचा रखने लायक है। (परम्परा से)

1952 में प्रकाशित उनकी महत्वपूर्ण काव्य कृति रश्मिरथी का नायक सूत पुत्र कर्ण समाज के पिछड़े तपके का प्रतिनिधित्व करता है। इस काव्य कृति के माध्यम से उन्होंने समाज में व्याप्त विभिन्न कुरीतियों पर अपने अतीत के गौरव के माध्यम से करारा प्रहार किया। उन्होंने लिखा

ऊँच-नीच का भेद न माने, वही श्रेष्ठ ज्ञानी है,
दया-धर्म जिसमें हो, सबसे वही पूज्य प्राणी है।
क्षत्रिय वही, भरी हो जिसमें निर्भयता की आग,
सबसे श्रेष्ठ वही ब्राह्मण है, हो जिसमें तप त्याग।

तेजस्वी सम्मान खोजते नहीं गोत्र बतला के,
पाते हैं जग में प्रशस्ति अपना करतब दिखला के।
हीन मूल की ओर देख जग गलत कहे या ठीक,
वीर खींच कर ही रहते हैं इतिहासों में लीक। (रश्मिरथी से)

रामधारी सिंह 'दिनकर' ने समयानुकूल विचारों को प्राथमिकता दी। उनका मानना था कि हम अहिंसा का पालन करते हैं परन्तु संकट समय अहिंसा की बजाय शौर्य पर विश्वास किया जाना चाहिए जैसाकि प्राचीन भारत में आपद्धर्म की प्रतिष्ठा थी। इसीलिए 'दिनकर' ने स्वतंत्रता संग्राम के समय 1933 में लिखा

रे, रोक युधिष्ठिर को न यहाँ,
जाने दे उनको स्वर्ग धीर,
पर, फिर हमें गाण्डीव-गदा,
लौटा दे अर्जुन-भीम वीर। (हिमालय से)

'दिनकर' की रचनाओं में लोगों की विरासत एवं लोगों की आशाएं एवं आकांक्षाएं दोनों प्रतिबिंबित होती हैं। 'दिनकर' की कृतियों में भीष्म, युधिष्ठिर, कर्ण, परशुराम, बुद्ध, अशोक जैसे भारतीय नायकों की पुण्य स्मृतियां भी सुरक्षित हैं। भारत पर चीनी आक्रमण के समय उन्होंने परशुराम की प्रतीक्षा नामक काव्य रच कर सामान्य जनमानस को इस कठिन समय में शत्रु का मुकाबला करने के लिए प्रेरित किया। रश्मिरथी में 'दिनकर' ने लिखा है

सच है, विपत्ति जब आती है,
कायर को ही दहलाती है,
शूरमा नहीं विचलित होते,
क्षण एक नहीं धीरज खोते,
विघ्नों को गले लगाते हैं,
काँटों में राह बनाते हैं। (रश्मिरथी से)

मातृभूमि प्रेम

रामधारी सिंह दिनकर ने भारतमाता की छवि जिस प्रकार से अपनी रचनाओं में उकेरा है उससे भारतीय राष्ट्रवाद की भावना और बलवती होती है। उन्होंने भूमि के एक टुकड़े को भारतमाता न मानकर उसके सांस्कृतिक पक्षों पर अधिक बल दिया है।

भू के मानचित्र पर अंकित त्रिभुज, यही क्या तू है?
नर के नभश्चरण की दृढ़ कल्पना नहीं क्या तू है?
भेदों का ज्ञाता, निगूढ़ताओं का चिर ज्ञानी है
मेरे प्यारे देश! नहीं तू पत्थर है, पानी है
जड़ताओं में छिपे किसी चेतन को नमन करूँ मैं?
भारत नहीं स्थान का वाचक, गुण विशेष नर का है
एक देश का नहीं, शील यह भूमंडल भर का है
जहाँ कहीं एकता अखंडित, जहाँ प्रेम का स्वर है
देश-देश में वहाँ खड़ा भारत जीवित भास्कर है
निखिल विश्व को जन्मभूमि-वंदन को नमन करूँ मैं!
(किसको नमन करूँ मैं भारत? काव्य से)

भारतीय संस्कृति एवं इतिहास

'दिनकर' ने भारतीय संस्कृति को एकात्मक संस्कृति के रूप में देखा। उन्होंने उसे भिन्न भिन्न कालक्रमों में विभाजित करने की बजाय एक ही संस्कृति के चार अध्यायों के रूप में रेखांकित किया। 'दिनकर' के लिए इतिहास अध्यायों से कहीं अधिक महत्वपूर्ण इनके भीतर प्रवाहित विकासोन्मुख वह एकात्मक काल चेतना है। रामधारी सिंह दिनकर मनुष्य सृष्टि की रचना भारत के पंजाब शिवालिक की पहाड़ियों में हुआ मानते हैं जिसका आधार इन्होंने राधाकुमुद मुखर्जी के इतिहास कांग्रेस अधिवेशन, 1952, ग्वालियर में दिए गए सभा भाषण को माना है (संस्कृति के चार अध्याय, पृष्ठ 25) और और यही विवरण हमें अपने भारतवर्ष के आदि साहित्य ऋग्वेद आदि से भी प्राप्त होता है। ऋग्वेद के बागामभृणी सूक्त में मिलता है

अहं राष्ट्री संगमनी वसूनां चिकितुषी प्रथमा यज्ञियानाम्। (ऋग्वेद 10,125,3)

तथा इसी प्रकार का विचार हमें यजुर्वेद में भी प्राप्त होता है–

सा प्रथमा संस्कृतिर्विश्ववारा (यजुर्वेद 7,14)

दिनकर अपनी ऐतिहासिक पुस्तक संस्कृति के चार अध्याय में मानव नस्ल की जंतुवादी और डार्विन के वैज्ञानिक विकासवादी सिद्धांत को ध्यान रखते हुए भाषाविज्ञान, मानुषमिति, जनविज्ञान को आधार बनाते हुए भारत में विकसित नस्ल को यूरोपियनो द्वारा प्रचारित शब्दावली कॉकेसियन (गौर वर्ण), मंगोलियाई (पीत वर्ण) और इथोपियन (कृष्ण वर्ण) में ही वर्गीकृत करते हैं और इसके लिए वह

जलवायु आदि कारकों की भूमिका को भी रेखांकित करते हैं। दिनकर इन तीनों वर्णों की प्राप्ति को विश्व मानवता में भारतीय मानवता को एक अद्भुत प्रतीक मानते हैं। साथ ही विश्व भर से आए हुए असभ्य, बर्बर और दुर्धस जातियां जो हिन्दू समाज में मिल गई उसी को आज वह हिन्दू संस्कृति कहते हैं (संस्कृति के चार अध्याय, पृष्ठ 26-27)।

दिनकर आर्य और द्रविड़ समस्या को समस्या न मानकर इसे भारतीय संस्कृति के विकास व प्रसार और सम्मिलन की दृष्टि से देखते हैं। वह भारतीय परंपरा को पुष्प की भांति लावण्यमयी मानते हैं और यह सिद्ध करने का प्रयास करते हैं कि अंग्रेजों से पहले आर्य और द्रविड़ के मध्य कोई संघर्ष नहीं दिखलाई पड़ता। इसे वह वैदिक व प्रागवैदिक भारतीय भाषा व संस्कृति के रूप में देखते हैं। साथ ही पारसी भाषा को वह भारतीय आर्य भाषा का ही एक अंश स्वीकार करते हैं। इस प्रकार यूरोपियनों के दुष्प्रचार को वह निर्मूल सिद्ध करते हैं और कहते हैं ऐसा कोई संघर्ष अतीत में नहीं हुआ था (संस्कृति के चार अध्याय, पृष्ठ 33-65)।

दिनकर आर्य और आर्येत्तर संस्कृतियों के मिलन की विशेष चर्चा करते हुए उत्तर और दक्षिण भारत के सम्मिलन में महर्षि अगस्त्य को विशेष व्यक्ति मानते हैं और वैदिक रचनाओं सहित कालांतर के अनेक ग्रन्थों में दक्षिण के अनेक रचनाकारों का योगदान मानते हैं। लेकिन उनकी कुछ बातें डॉ. मंगलदेव शास्त्री जैसे विद्वानों के विचारों तक सीमित रह जाती है जिसके कारण भारतीय जीवन दृष्टि की तरफ नैराश्य की भावना भी दिखाई पड़ती है। दिनकर जाति और वर्ण के विकास को बाह्य आक्रांताओं के भारतीय समाज में सम्मिश्रण करने के लिए एक मार्ग के रूप में देखते हैं और इस मिश्रण के कारण विभिन्न उपजातियों के विकास क्रम को भी बतलाने का प्रयास करते हैं। दिनकर इस ओर संकेत करते हुए दिखलाई पड़ते हैं कि महाभारत के समय में सर्वाधिक अनुलोम व प्रतिलोम विवाह हुए होंगे इसका प्रमुख कारण वह महाभारत युद्ध को मानते हैं परन्तु एक प्रश्न यह भी खड़ा होता है कि वर्ण क्रम क्यों टूटा, इस पर विचार किया जाना चाहिए।

दिनकर के अनुसार जाति का आधार केवल वृत्ति या पेशा ही था बाद की जातीय विविधता को वह पेशे के असीमित चयन के कारण उत्पन्न हुआ मानते हैं। भारतीय शूद्र वर्ण को वह यूरोप के दासों के समान नहीं मानते। इसके लिए वह अनेक साक्ष्य उपलब्ध करवाते हैं और यह कहते हैं कि शूद्र दूसरों की सेवा पर अवलंबित

नहीं थे अतः वह कभी भी कृत दास नहीं रहे। वह यह भी बताने का प्रयास करते हैं कि भारतीय शूद्र यूरोप के दासों से आर्थिक रूप से संपन्न थे और उन्हें अपने कार्यों से अधिक व पूर्व वेतन देने की भी चर्चा प्राप्त होती है, इसके सन्दर्भ में वह तत्कालीन ग्रामीण परिवेश में प्रचलित विभिन्न उदाहरणों को रखते हैं।

स्त्रियों की दशा के रूप में दिनकर वैदिक काल को श्रेष्ठ काल मानते हैंए इसके लिए वह कहते हैं कि वैदिक काल में स्त्रियों के लिए गृहस्वामिनी, साम्राज्ञी जैसे शब्द मिलते हैं तथा वह यह भी कहते हैं कि उस समय स्त्रियों को स्वयं का वर (स्वयंवर) चुनने का अधिकार था लेकिन साथ ही वह इतिहासकारों से यह भी आग्रह करते हैं कि वर्तमान की प्रत्येक समस्या का हल वेदों में ना खोजें।

दिनकर आर्य संस्कृति या वैदिक संस्कृति के दार्शनिक चिन्तन और लौकिक जीवन के प्रति निवृत्ति का मूल कारण यह मानते हैं कि वैदिक लोगो ने चिन्तन की उस पराकाष्ठा को देख या समझ लिया था और वे जीवन के सूर्योदय व सूर्यास्त को जान चुके थे जिसके कारण निःसारता का बोध होने लगा था।

दिनकर संस्कृत को ही भाषा का मूल आधार मानते हैं साथ ही आर्य और आर्येत्तर संस्कृतियों के द्वंद में वह अध्यात्म शास्त्र के निवृत्ति मार्ग और कर्म आधारित प्रवृत्ति मार्ग को कारण मानते हैं। प्रकृति के द्वंद स्वरूप में समाज और जीवन के द्वंद को क्रमशः कर्म, प्रवृत्ति, स्वर्ग को संन्यास, निवृत्ति, नरक के स्वरूप में लिखते हैं।

दिनकर भारतीय धर्म और पश्चिमी रिलीजन को अलग मानते हुए धर्म को अति प्राचीन मानते हैं। दिनकर सभी भाषाओं को श्रेष्ठ मानते थे और आज जिस प्रकार से प्रधानमंत्री मोदी सभी भाषाओं को राष्ट्रभाषा मानते हैं कहीं ना कहीं इसे भी दिनकर प्रेरित माना जा सकता है।

प्रारम्भ में दिनकर ने 33 कोटि शब्द को 33 करोड़ देवी देवताओं के रूप में स्वीकृति प्रदान किया था परन्तु बाद में ‘बुद्ध से पहले हिंदुत्व‘ नामक अध्याय में वह शतपथ ब्राम्हण में लिखित 8 वसु, 11 रुद्र, 12 आदित्य, दो अश्वनी कुमार के उल्लेख का उद्धरण देते हुए अपनी पूर्व की बात में संशोधन भी करते हुए दिखाई देते हैं। इन्होंने जो वैदिक नहीं हैं उन्हें द्रविड़, आस्ट्रिक व निग्रो समाज का माना है। इन्होंने शिव को आर्येत्तर संस्कृति का देवता स्वीकार किया है, जो थोड़ी समझ से परे है। उनका स्पष्ट मानना है कि आर्य अपने संस्कृति का प्रसार अन्य जातियों में करना चाहते थे इसलिए वह अन्य जातियों के पास गए ना कि उनके संपर्क से बचने का

का प्रयास किया। दिनकर यह भी कहते हैं कि यदि आर्य इस मिश्रण से बचना चाहते तो भी शायद वह बच नहीं पाते।

दिनकर उत्तर के आर्यों तथा दक्षिण के द्रविड़ों को जोड़ने वाली भौगोलिक एकता के भाव को रामायण व महाभारत तथा पौराणिक साहित्यों में उल्लेखित तीर्थ स्थानों, यात्राओं तथा अश्वमेघ जैसे यज्ञों में देखते हैं और वह यह भी कहते हैं कि संघर्ष एवं हिंसा विहीन भारतीय एकीकरण मानव व राष्ट्रहित में है। उनका सदैव मानना रहा है कि भारत का चिन्तन राष्ट्रीय कम अंतर्राष्ट्रीय अधिक है और राष्ट्रीयता के मूल आधार को वह राजनीति व अर्थ में न खोज कर संस्कृति व धर्म को मानते थे (संस्कृति के चार अध्यायए पृष्ठ 66-68)।

शिव संबंधित उनकी अवधारणा में आचार्य क्षितिज मोहन सेन, सुनीत कुमार चटर्जी और कोसाम्बी के विचारों का प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है। शिव को काम देवता बतलाने का छोटा सा प्रयास शिव की वास्तविक दार्शनिक व्याख्या से अछूता है।

दिनकर राम जैसे राष्ट्रीय नायक के अस्तित्व को पूर्णतः स्वीकार करते हैं और कहते हैं कि बिना किसी आधार के सामान्य जनमानस में उनका इतना प्रचार प्रसार असंभव है। साथ ही रामायण में उल्लेखित भौतिक, सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिक साक्ष्यों की वर्तमान में उपलब्धता भी महत्वपूर्ण आधार है। दिनकर रामायण के अयोध्या काण्ड से युद्ध काण्ड तक को मूल रामायण मानते हैं तथा बालकाण्ड व उत्तर काण्ड को अन्य कवियों द्वारा मिश्रण मानते हैं।

दिनकर हिन्दू संस्कृति को आज तक जीवित इसलिए मानते हैं क्योंकि हिन्दू संस्कृति की पाचन शक्ति अत्यंत प्रचण्ड है, जो विश्व की अनेक दुर्धस जातियों को पचाकर अपने जैसा बना देने की क्षमता अर्थात समन्वय की कला रखती है, जिसे वह विश्व मानवता के लिए सबसे बड़ा वरदान मानते हैं।

निष्कर्ष

भारत का राष्ट्रवाद एक बहुआयामी विषय है, जिसने समय समय पर विभिन्न रूपों में प्रकट होकर भारतीय समाज, संस्कृति और राजनीति को प्रभावित किया है। ‘दिनकर‘ की रचनाओं में राष्ट्रवाद की भावना स्पष्ट रूप से देखने को मिलती है। रामधारी सिंह ‘दिनकर‘ की हुंकार, रेणुका, सामधेनी, कुरुक्षेत्र, रश्मिरथी, परशुराम की प्रतीक्षा आदि रचनाएं महत्वपूर्ण हैं। उनके काव्य संग्रह रश्मिरथी और परशुराम

की प्रतीक्षा में देशभक्ति, राष्ट्रीय एकता और सामाजिक न्याय की भावना गहरी है। संस्कृति के चार अध्याय में भारतीय संस्कृति, इतिहास और सभ्यता का उत्कृष्ट वर्णन मिलता है। दिनकर का इतिहासबोध भारतीयता की ओट लिए हुए है। इनके विचारों में भारतीय परंपराए, दर्शन, धर्म आदि की स्पष्ट झलक मिलती है। इन्होंने भारतीय विचारों जैसे अहिंसा, सर्वसेवा, सर्वस्वीकृति, प्रकृतिप्रेम आदि को विश्व के लिए आवश्यक व कल्याणकारी माना है। इनके कुछ विचार आधुनिक इतिहास लेखकों व चिंतको पर आधारित है अतः कई जगहों पर उन्हीं का अनुसरण दिखाई देता है लेकिन उनका राष्ट्रबोध, राष्ट्रचिन्तन व इतिहासबोध वर्तमान भारतीय जनमानस को जागृत करने के लिए प्रबल प्रेरणा का कार्य करता है जिसके कारण यह राष्ट्रकवि व राष्ट्ररत्न के रूप में विख्यात हैं।

सन्दर्भ

1. रामधारी सिंह दिनकर, रश्मिरथी, लोकभारती प्रकाशन, प्रयागराज, 2021
2. रामधारी सिंह दिनकर, संस्कृति के चार अध्याय, लोकभारती प्रकाशन, प्रयागराज, 2021
3. रामधारी सिंह दिनकर, रेणुका (काव्य संग्रह), उदयाचल, राष्ट्रकवि ‘दिनकर‘ पथ, राजेन्द्र नगर, पटना, 1954
4. रामधारी सिंह दिनकर, सामधेनी (काव्य संग्रह), उदयाचल, राष्ट्रकवि ‘दिनकर‘ पथ, राजेन्द्र नगर, पटना, 1949
5. रामधारी सिंह दिनकर, परशुराम की प्रतीक्षा (काव्य संग्रह), उदयाचल, राष्ट्रकवि ‘दिनकर‘ पथ, राजेन्द्र नगर, पटना, 1986
6. रामधारी सिंह दिनकर, हुंकार (काव्य संग्रह), लोकभारती प्रकाशन, प्रयागराज, 2015

सहायक आचार्य,
शोध छात्र, प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्त्व विभाग,
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी, 221005

राष्ट्रीय और सांस्कृतिक चेतना के उन्नायक कवि : रामधारी सिंह 'दिनकर'

— नेहा श्रीवास्तव

साहित्य का संबंध मानव समुदाय से है और मानव समुदाय की एक इकाई के रूप में ही साहित्यकार निकल कर आता है। कोई भी साहित्यकार या कवि अपने युग विशेष की परिस्थितियों के परिणामस्वरूप अपना निर्माण करता है और अपने परिवेशगत यथार्थ की सच्चाई से रू-ब-रू होता हुआ अपने युगीन समय की सच्चाई को साहित्य में चित्रित करता है। साहित्य सदैव युग-सापेक्ष होता है। और उसी के परिणामस्वरूप साहित्यकार अपना साहित्य-सृजन करता है। कोई भी रचनाकार अपने युग के निरपेक्ष रहकर रचना कर ही नहीं सकता, वह युगानुकुल परिवेश में रहते हुए जो सृजन करता है वही उसके सृजन का प्राण-तत्त्व होता है। यदि एक श्रेष्ठ रचनाकार अपनी रचना में युग-विशेष के परिवेश को ध्यान में रखते हुए सृजन करता है तो वह रचना ज़्यादा प्रभावी और उपयोगी होती है। इस संदर्भ में एक जगह नंददुलारे वाजपेयी जी लिखते हैं - " युग की संवेदनाओं से समीक्षक का घनिष्ठ परिचय होना चाहिए। तभी वह युग के साहित्य का आकलन सम्यक् रूप से कर सकेगा। जिन नूतन स्थितियों और प्रेरणाओं में नवीन काव्य का निर्माण हुआ है, जिन नवीन वादों की सृष्टि हुई है और जो नयी शैलियाँ साहित्य में अपनाई गई हैं, उनका जब तक परिचय नहीं, तब तक साहित्य का मूल्यांकन क्या होगा ? किन्तु घनिष्ठ-से-घनिष्ठ परिचय में भी तटस्थता समीक्षक के लिए आवश्यक है। यह तटस्थता सफल विश्लेषण की पहली शर्त है।"[1]

यही कारण है कि किसी भी प्रकार के मौलिक साहित्य-सृजन के लिए साहित्यकार विशेष को अपने समय के युगानुकूल चलकर साहित्य सृजन करना अति आवश्यक होता है। वैसे भी कोई भी श्रेष्ठ साहित्यकार युग विशेष की परिस्थितियों को ध्यान में

रखते हुए ही अपनी रचना को अंतिम रूप देता है। सांस्कृतिक - राष्ट्रीय चेतना के प्रमुख कवियों में रामधारी सिंह 'दिनकर' का नाम आज भी बड़े सम्मान और आदर के साथ लिया जाता है। दिनकर के काव्य का प्रधान विषय ही राष्ट्रीय - सांस्कृतिक जागरण था। और इस चेतना को वह समाज में अनवरत रूप से अपनी रचनाओं के माध्यम से जगाए हुए थे। नवजागरण के दौर में जिस प्रकार भारतेंदु हरिश्चंद्र राष्ट्रीय जागरण और राष्ट्र-भक्ति की अलख जगाए थे, वैसे ही छायावादोत्तर युग में रामधारी सिंह दिनकर राष्ट्रीय चेतना के उन्नायक कवि के रूप में साहित्य जगत में सामने आए। उन्होंने अपने समय में राष्ट्रीयता और सांस्कृतिक चेतना से संबंधित महत्त्वपूर्ण पुस्तकों का सृजन कर राष्ट्र-प्रेम और जागरण की धारा में एक महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। इन्होंने प्रमुख रूप से 'कुरुक्षेत्र', 'उर्वशी', 'रश्मिरथी', 'हुंकार', 'परशुराम की प्रतीक्षा', 'नील कुसुम', 'रसवंती', 'सामधेनी', 'बापू' आदि महत्त्वपूर्ण रचनाओं के माध्यम से राष्ट्रीय- सांस्कृतिक जागरण का बिगुल बजाया।

दिनकर की राष्ट्रीय चेतना प्रगतिशील तत्त्वों के साथ-साथ स्वदेशानुराग का भाव लिए आगे बढ़ती है। जिस प्रकार भारतेंदु हरिश्चंद्र अपने समय में बार -बार यह कहते हुए पाए जाते है कि विदेशी भाषा और विदेशी वस्तु का भरोसा मत करो। मतलब साफ़ है कि स्वदेशी भाषा और स्वदेशी वस्तुओं को अपनाने की बात वो बार-बार करते हैं। उसी प्रकार रामधारी सिंह 'दिनकर' में भी राष्ट्रीय उत्थान, राष्ट्रीय जागरण तथा सांस्कृतिक चेतना की आकांक्षा और विदेशी सत्ता को उखाड़ फेंकने का भाव उन्हें एक नवीन शक्ति प्रदान करता है । उनकी एक कविता 'गुलामी की बेड़ियों में' कराहती भारत - माता की दारुण वेदना की अभिव्यक्ति है। दासता का भाव, विद्रोह की चेतना, भारतबोध का भाव यहाँ साफ़ दिखाई देता है। जनसाधारण के प्रति उपेक्षा और दीनता का भाव देखकर कवि (दिनकर) का मन उद्वेलित हो उठता है, वह एक जगह 'हुंकार' नामक कविता में लिखते हैं कि-

"श्वानों को मिलता दूध वस्त्र, भूखे बालक अकुलाते हैं,
माँ की हड्डी से चिपक, ठिठुर जाड़ों की रात बिताते हैं,
युवती के लज्जा वासन बेच तब ब्याज चुकाए जाते हैं,
मालिक जब तेल-फूलेलों पर पानी सा द्रव्य बहाते हैं। "[2]

दिनकर का काव्य सतत् जागरण का काव्य है। उनके काव्य के केंद्र में भारत-माता का जय-गान और उनकी करोड़ों संतानें रही हैं। वे गांधी की अहिंसा का विरोध

करने के साथ-साथ पूंजीवादी व्यवस्था का भी डटकर विरोध करते हुए नज़र आते है। राष्ट्र-प्रेम के भाव से हर पल दिनकर का हृदय आह्लादित रहता है। राष्ट्रीय-बोध और भारतीयता का भाव उनके रग-रग में गूँजता है। 'रेणुका' (1935) उनकी पहली काव्यकृति है जिसमें युगबोध, संघर्ष, विद्रोह, क्रान्ति, दासता से भारत भूमि की मुक्ति आदि कविता का प्रमुख केन्द्रीय विषय रहा है। दिनकर पौरुष के प्रबल समर्थक रहे हैं, इसलिए उनके विचार गांधी के विचारों के बजाय बालगंगाधर तिलक के विचारों से काफ़ी पास एवं उनसे प्रभावित नज़र आते हैं। दिनकर अपनी काव्य-चेतना के माध्यम से देश की सोयी हुई चेतना को पुन: जगाना चाहते हैं। वह हर समय क्रान्ति और चेतना की बात करते हैं। अपनी वाणी के माध्यम से वह उनमें दहकते हुए लाल अँगारे भर देना चाहते हैं। इसीलिए वह वीणा छोड़कर क्रान्ति का भैरव – नाद फूँकना चाहते है।

" फेंकता हूँ लो, तोड़ मरोड़ अरे निष्ठुरे ! बीन के तार,
उठा चाँदी का उज्जवल शंख फूँकता हूँ भैरव-हुंकार। "[3]

दिनकर का जीवन अनवरत संघर्ष का रहा है। वह एक साधारण परिवार में पले-बढ़े संस्कारवान व्यक्ति थे। उनका काव्य जनचेतना का काव्य था और उनके मानस में पलायनवादी सोच के अभाव के साथ वीरोचित भावना, विरोधियों को ललकारने का भाव, पौरुष का उद्घोष उनकी काव्य रचना का मुख्य केंद्र बिंदु रहा है। वे स्पष्ट शब्दों में कहते हैं कि - "जहाँ शस्त्र नहीं शास्त्र पछताते या रोते हैं। ऋषियों को भी सिद्धि तभी तप में मिलती है, जब पहरे पर स्वयं धनुर्धर राम खड़े होते हैं। "4 राष्ट्रवाद की भावना का प्रत्यक्ष प्रमाण उनकी काव्य-रचना 'परशुराम की प्रतीक्षा' में प्रत्यक्ष रूप से देखने को मिलती है। जो एक नवीन रूप में नवीन दृष्टि के साथ हमारे सामने आती है। वे गांधी की अहिंसा को त्यागने तथा परशुराम की तरह धर्म और जाति की रक्षार्थ शस्त्र स्वीकार कर उनको उठाने की बात बार-बार करते हैं। वे अपनी इस कालजयी रचना में लिखते हैं –

" चिंतकों ! चिन्तना की तलवार गढ़ो रे।
ऋषियों ! कृशानु उद्दीपक मंत्र पढ़ो रे।
योगियों ! जगो, जीवन की ओर बढ़ो रे।
बंदूकों पर अपना आलोक मढ़ो रे।" [5]

दिनकर जी का अधिकांश साहित्य राष्ट्रीय चेतना को समग्रता में लिए हुए है।

उनकी भारतीयता राष्ट्रीयता के रूप में अपनी पहचान बनाती हैं। राष्ट्र का यह कवि अपने देश की धरती और जनता से अटूट-प्रेम करता है। दिनकर ने गुलामी के कलंक को धोने के लिए ही देश-प्रेम से लबालब कविताओं के माध्यम से देशवासियों को नव-जागरण का सन्देश दिया है। उन्होंने उन सत्ताधीशों के ख़िलाफ़ बेबाक लिखा है, जो राष्ट्रीयता के चोले में अभारतीयता को लपेटे हुए है। ये सत्ताधीश अपने स्वार्थ के लिए जनता के जीवन से खिलवाड़ करते हैं, इनके लिए लोकतंत्र सिर्फ़ नाटकीयता की वस्तु है जो केवल अपने सुख के लिए जनता के स्वाभिमान को भी बेच देते हैं। अपनी रचना 'कुरुक्षेत्र' में वे इस बनावटी राष्ट्रवाद के विषय में लिखते हैं –

"वह कौन रोता है वहाँ, इतिहास के अध्याय पर
जिसमें लिखा है नौजवानों के लहू का मोल है
प्रत्यय किसी बूढ़े कुटिल नीतिज्ञ के व्यवहार का
जिसका ह्रदय उतना मलिन जितना कि शीर्ष वलक्ष है ;
जो आप तो लड़ता नहीं,
कटवा किशोरों को मगर,
आश्वस्त होकर सोचता,
शोणित बहा, लेकिन गई बच लाज सारे देश की। "[6]

राष्ट्रीयता के अंतर्गत राष्ट्र या देश के प्रति व्यक्ति का एक घनिष्ठ संबंध होता है। राष्ट्रीयता मनुष्य की सहज और स्वाभाविक वृत्तियों में से एक है, जिसके आधार पर वह अपने देश के प्रति आत्मीय लगाव का अनुभव करता है। डॉ. नगेन्द्र राष्ट्रीय कविता की मूल-भावना देश-भक्ति को मानते हुए कहते हैं कि – " देश-भक्ति में प्राधान्य तो नि: संदेह उत्साह का कहीं है परन्तु उसमें राग का आधार भी वर्तमान है, देश भक्ति व्यक्ति-परक न होकर एक समष्टि-परक भाव है अर्थात् यह राग मिश्रित उत्साह व्यक्ति के प्रति न होकर समष्टि के प्रति होता है। देश-भक्ति में स्व का वृत्त समग्र देश और उसके निवासियों तक विस्तृत हो जाता है।"[7]

संस्कृति जीवन की तराश है, यह बाह्य विषय के बजाय हमारे भीतर का विषय है। धर्म, साहित्य, कला, दर्शन और काव्य-शिल्प को हमारे अन्तस में समेटे हुए है। मन और आत्मा को संतुष्ट करने के लिए मनुष्य अपना जो विकास करता है उसे संस्कृति कहते हैं। संस्कृति अनेक संस्कारों के योग से बनती है, जो मनुष्य के जन्म से लेकर मृत्यु तक उसके साथ रहती है। संस्कृति जीवन-बोध है जिस पर बात करते

हुए रामधारी सिंह 'दिनकर' लिखते हैं – " संस्कृति अहंकार नहीं विनय है, संस्कृति जीत नहीं समझौता और मैत्री का नाम है। एक दूसरे धरातल पर संस्कृति विचार है, संस्कृति भावना है। संस्कृति मनुष्य का जीवनव्यापी दृष्टिकोण है। हम जैसे विचारों में विश्वास करते हैं हमारे विचार वैसे ही हो जाते हैं। संस्कृति न केवल निवृत्ति है न केवल प्रवृत्ति है। संस्कृति दुराग्रह नहीं सहनशीलता को कहते हैं। संस्कृति युद्ध नहीं समझौते का नाम है। "[8]

संस्कृति हमारे लोक-जीवन को जानने-समझने का नाम है। भारतीय संस्कृति के ओजस्वी गायक दिनकर जी की काव्य सृष्टि का उदय उस धारा से हुआ, जो भारतेंदु हरिश्चंद्र, मैथिलीशरण गुप्त, रामनरेश त्रिपाठी, सुभद्राकुमारी चौहान, माखनलाल चतुर्वेदी, बालकृष्ण शर्मा 'नवीन'से होती हुई निरंतर प्रवाहमान रही है। दिनकर जैसा पौरुषवान एवं ओजमय कवि देश की सांस्कृतिक चेतना के प्रति अत्यधिक सजग और सतर्क जीवनपर्यंत रहें है। उनके प्रथम काव्य-संग्रह 'रेणुका' में 'हिमालय' नामक कविता संग्रहीत है, जिसमें देश की संस्कृति को बचाने का पूर्ण विवरण मिलता है। इसमें धैर्य, संघर्ष एवं भाषा की उत्कृष्ट प्रखरता के साथ-साथ श्रद्धा का प्रतीक है। इस अद्भुत कविता में भारतीय संस्कृति के मूल्यों एवं प्राकृतिक दृश्यों को उजागर किया गया है। देश को प्रेरित एवं समर्पित करते हुए दिनकर अपनी इस कविता में लिखते हैं –

" रे रोक युधिष्ठिर को न यहाँ जाने दे उनको स्वर्गधीर।
पर फिरा हमें गांडीव गदा लौटा दे, अर्जुन-भीम वीर।
कह दें शंकर से आज करें वे प्रलय-नृत्य फिर एक बार।
सारे भारत में गूंज उठे, हर-हर बम का, फिर महोच्चार। "[9]

सांस्कृतिक चेतना के कवि दिनकर की भारतीय संस्कृति के प्रति उनकी जड़ें बहुत मजबूत तथा परम्पराएँ सुदृढ़ एवं अटूट रहीं हैं। उन्होंने अपनी रचना 'कविता की पुकार' में भारतीय कृषक जीवन की त्रासदी, उनकी मार्मिकता को अभिव्यक्त किया है कि किस प्रकार कृषक, समाज का पालन-पोषण करते हुए ऋणग्रस्त हो गया है और इस ऋण को चुकाने के लिए वे अपने घर में रखी हुई सारी दूध-घी तक को बेच देते हैं। उनके बच्चे दूध-घी के लिए ललचाते हैं। यह कविता उस समय की भयावह स्थिति को व्यक्त करती है। अपनी इस कविता में इसका मार्मिक चित्रण करते हुए लिखते हैं -

“ ऋण शोधन के लिए दूध घी बेच-बेच धन जोड़ेंगे।
बूंद-बूंद बेचेंगे अपने लिए नहीं कुछ छोड़ेंगे।
शिशु मचलेंगे दूध देख, जननी उनको बहलाएगी।
मैं फाड़ूँगा हृदय लाज से आँख नहीं रोक पायेगी। ”[10]

कवि दिनकर के काव्य का मूल जीवन-दर्शन मानवतावाद है। उनका काव्य मानव-मात्र की मंगल-कामना, करूणा, क्षमा, विश्व-प्रेम, विश्व-बन्धुत्व, और विश्व-शान्ति जैसे उच्चतर जीवन मूल्यों से अनुप्राणित मानवतावादी जीवन-दर्शन से भरा हुआ है। उन्होंने भारतीय संस्कृति को एक नवीन दिशा प्रदान की है। दिनकर हिंसा, आपसी विद्वेष से मुक्त ऐसे आदर्श की कल्पना करते हैं जिनमें विश्व शान्ति की मधुर ध्वनि रहें। यह पृथ्वी उल्लास और ऐश्वर्य की अनवरत सुधा-वृष्टि से अभिषिक्त होती रहें -

“सुनेगी शान्ति का कूजन यही सर्वत्र सुख से
गगन पर जो घिरेंगे मेघ वे पीयूष देंगे।”[11]

दिनकर सम्पूर्ण संसार को विश्व-बन्धुत्व की भावनाओं से भरा देखना चाहते हैं। साथ ही यह कल्पना करते हैं कि सभी राष्ट्र अपनी-अपनी सभ्यता, संस्कृति तथा स्वतंत्रता को बनाये रखते हुए पारस्परिक एकता की भावना से प्रेरित होकर विश्व के एक झंडे के नीचे एकत्र हो जायेंगे। दिनकर जी अपनी ‘आत्मा की आँख’ रचना में लिखते हैं -

“दिखेगा विश्वनाद का नारा
एकता अनेकता में अपने को खोजेगी
रंग-विरंगे छोटे-छोटे देश
बोलते हुए अपनी-अपनी भाषाएँ
पहने हुए अपने-अपने वेश
एक हो महफ़िल में बैठेंगे होकर स्वाधीन
कोई नहीं किसी की माँ के अधीन।”[12]

कवि ‘दिनकर’ ने सांस्कृतिक धरातल पर युग-बोध को चित्रित करते हुए आस्था-अनास्था, स्नेह, धर्म, शौर्य और करूणा के साथ-साथ ज्ञान और भावना, विज्ञान तथा कला, बुद्धि एवं हृदय से उठने वाले अनेक प्रश्नों को हमारे सामने उज़ागर किया है। उन्होंने भारत को विश्व का ‘सांस्कृतिक सिरमौर’ माना है। दिनकर

अपनी कविता 'नील कुसुम' के माध्यम से भारत में धर्म, सत्य, शान्ति तथा न्याय की ज़्योति प्रज़्ज़्वलित की है एवं भारत को अग्रदूत के रूप में अग्रसर माना है। वे लिखते हैं –

"भारत नहीं यह स्थान का वाचक, गुण विशेष नर का है,
एक देश का नहीं, शील यह भूमंडल भर का है।
जहाँ कहीं एक़ता अखंडित, जहाँ प्रेम का स्वर है,
देश-देश में वहाँ खड़ा भारत जीवित भास्वर हैं।"[13]

वस्तुत: दिनकर राष्ट्रीय-सांस्कृतिक पुरोधा के रूप में सांस्कृतिक मूल्यों की ज़्योति आगामी पीढ़ियों में ऐसे ही सदैव जगाते रहेंगे। संस्कृति की महत्ता के संबंध में वे लिखते है कि –" संस्कृति ज़िन्दगी का एक तरीका है और यह तरीका सदियों से जमा होकर उस समाज में छाया रहता है, जिसमें हम जन्म लेते है। इसलिए जिस समाज में हम पैदा हुए हैं अथवा जिस समाज में मिलकर हम जी रहे हैं, उसकी संस्कृति हमारी संस्कृति है, यद्यपि अपने जीवन में हम जो संस्कार जमा करते हैं वह भी हमारी संस्कृति का अंग बन जाता है और मरने के बाद हम अन्य वस्तुओं के साथ अपनी संस्कृति की विरासत भी अपनी संतानों के लिए छोड़ जाते हैं। इसलिए संस्कृति वह चीज़ मानी जाती है जो हमारे सारे जीवन को व्यापे हुए है तथा जिसकी रचना और विकास में अनेक सदियों के अनुभवों का हाथ है। "[14]

निष्कर्षत: राष्ट्रीय और सांस्कृतिक चेतना एक-दूसरे से जुड़ी हुई भावनाएँ हैं। एक राष्ट्र की भावना को बनाए रखने में उसकी सांस्कृतिक एकता की महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। रामधारी सिंह 'दिनकर' जन-चेतना के राष्ट्रीय अमर गायक एवं सांस्कृतिक पुरोधा के रूप में विश्व-विख्यात हैं। उनका व्यक्तित्व जितना आकर्षक एवं विराट है उतनी ही उनकी रचनाएँ राष्ट्रीय और सांस्कृतिक भावबोध से लिप्त देखने को मिलती हैं। उन्होंने अपने काव्य में ऐतिहासिक, सामाजिक, आर्थिक, नैतिक, दार्शनिक आदि सांस्कृतिक मूल्यों पर गहन कार्य किया है। दिनकर की संस्कृतिपरक रचनाएँ हमें भारत के सांस्कृतिक बोध के सफ़र तक ले जाती है और उसमें सनातन परंपरा का भाव बड़े व्यापक स्तर पर देखने को मिलता है। संस्कृति का तात्पर्य ही पवित्र, शुद्ध, परिष्कृत आदि शब्दों से लगाया जाता है और यह सारे तत्त्व हमारे जीवन के अमूल्य बिंदु माने जाते है। दिनकर का सम्पूर्ण साहित्य राष्ट्रवादी और प्रगतिवादी विचारों से परिपूर्ण रहा है। उनका काव्य किसी भी विचारधारा के

अतिवादों को उपेक्षित करते हुए आदर्श व यथार्थ के धरातल पर सहजानुभूति को महत्त्व देते हुए अपनी काव्य-सर्जना को समृद्ध करता है। दिनकर ने न केवल विश्व-बंधुत्व की बात की बल्कि हिन्दू-मुस्लिम संस्कृति के बीच समन्वय का भाव रखते हुए सम्पूर्ण देश में राष्ट्रीय-सांस्कृतिक जागृति का बोध जगाने का कार्य अपनी रचनाओं के माध्यम से किया। इनके काव्य की विषय-वस्तु का केंद्र ही सम्पूर्ण रूप से मानव-कल्याण एवं सांस्कृतिक समन्वयता के साथ राष्ट्रबोध तथा भारतबोध के भाव के साथ जनमानस में लोक-कल्याण की भावना जगाना रहा है। राष्ट्र के प्रति कवि का यह गहन अनुराग राष्ट्रीयता के विविध आयामों को पोषित करता है। दिनकर केवल अतीत में ही रमकर नहीं रह गये, बल्कि उन्होंने अपने युग की विविध विषमताओं और आकांक्षाओं के प्रति सजग होकर राष्ट्रीय-सांस्कृतिक चेतना का पूरा रूप प्रतिबिंबित किया है। इस प्रकार हम यह कह सकते हैं कि आधुनिक राष्ट्रकवि के रूप में प्रखर अद्वितीय कवि दिनकर ब्रिटिश-शासन की साम्राज्यवाद नीति का घोर विरोध करते हुए भारत की जनता में राष्ट्रीयता का भाव जगाने में पूरी तरह से एक सफल रचनाकार साबित हुए हैं। कवि की इस प्रकार की मंगलकारी, मानवतावादी व्यापक राष्ट्र एवं सांस्कृतिक चेतना को देखकर ही आलोचकों ने उन्हें राष्ट्रीय-सांस्कृतिक काव्य का 'युगचारण' कहा है। डॉ. अनुपमा के शब्दों में- "दिनकर में भारतीय संस्कृति का अत्यंत उदात्त बोध था। अपनी संस्कृति के प्रति अनुराग होने से ही राष्ट्रीय भावना से उद्भूत कविताएँ इतनी मार्मिक बन पड़ी हैं।"[15]

संदर्भ

1. आचार्य नंददुलारे वाजपेयी, प्रो. विजय बहादुर सिंह; पृ.40
2. हुंकार, रामधारी सिंह 'दिनकर'; पृ.73
3. वही, पृ.10
4. परशुराम की प्रतीक्षा, रामधारी सिंह 'दिनकर'; पृ.45
5. वही, खंड 3-, पृ.18
6. कुरुक्षेत्र, रामधारी सिंह 'दिनकर'; प्रथम सर्ग
7. आधुनिक हिन्दी कविता की मुख्य प्रवृत्तियाँ, डॉ. नगेन्द्र; पृ.19
8. संस्कृति एवं समाज के उत्थान में साहित्य का योगदान, डॉ. वसुन्धरा उपाध्याय (संपादक); पृ.104
9. रेणुका, रामधारी सिंह 'दिनकर'; पृ.04

10. वही, पृ.13
11. शीपी और शंख, रामधारी सिंह 'दिनकर'; पृ. 59
12. आत्मा की आँखें, रामधारी सिंह 'दिनकर'; पृ.72-71
13. नीलकुसुम, रामधारी सिंह 'दिनकर'; पृ. 95 -94
14. रेती के फूल, रामधारी सिंह 'दिनकर'; पृ.125
15. दिनकर के काव्य में सांस्कृतिक चेतना, डॉ. अनुपमा; पृ.192-191

शोधार्थी, हिन्दी विभाग
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

राष्ट्रीय चेतना के प्रखर स्वर : रामधारी सिंह दिनकर

— डॉ. शिखा रानी

राष्ट्र और चेतना दोनो स्वतंत्र शब्द हैं जिसके मेल से एक महान शक्ति उद्भित होकर राष्ट्रीयता, राष्ट्रीय भावना अथवा राष्ट्रीय चेतना का स्वरूप धारण करती है। यही भावना साहित्य में स्वर और सुर बनकर फूट पड़ती है और अनंतर प्रवाहित होती रहती है। इससे जनमानस में सामूहिक चेतना का निर्माण होता है। "देश भक्ति का उद्वेलन कभी समर्पण तो कभी आंदोलन का रूप धारण कर लेता है, जिससे व्यक्ति के स्वत्व से लेकर राष्ट्र तथा देश की स्वतंत्रता और समानता की सुरक्षा के लिए सर्वस्व समर्पण तक के भाव समाविष्ट होते हैं।"[1] यहां यह जान लेना आवश्यक है कि राष्ट्र सर्वथा आधुनिक संकल्पना नहीं है। इसका संबंध बहुत प्राचीन है। यह हमारी सांस्कृतिक धरोहर है। यूं कहें तो यह हमारी संस्कृति का एक अभिन्न अंग है। इसका संस्कृति से अन्योन्याश्रित संबंध है। साहित्य भी उसी संस्कृति का एक अंग है। यह परस्पर एक दूसरे में गुथे हुए होते हैं, जिससे जनमानस में राष्ट्रीय चेतना को उत्तेजित तथा सुदृढ़ करने में सहायता मिलती है। इस पुनीत कार्य हेतु साहित्य सदैव अग्रणीय भूमिका में रहा है।

राष्ट्रप्रेम अथवा राष्ट्रीय चेतना इस देश में सदैव से रही है, जैसा कि हमें विदित है- कोई भी देश बनता है भौगोलिक क्षेत्र से, उस क्षेत्र में रहने वाली जनता से, उसकी भाषा से, उसकी रहन-सहन तथा संस्कृति से और इन सबका प्रतिबिंब साहित्य में मिलता है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने इस बात को इस प्रकार स्वीकार किया है कि "प्रत्येक देश का साहित्य वहाँ की जनता की चित्तवृत्ति का संचित प्रतिबिंब होता है।"[2] तब यह निश्चित है कि हिंदी साहित्य के प्रत्येक कालखंड में अपने युगबोध के सापेक्ष कवियों ने अपनी कविता में राष्ट्रीयता के स्वर अवश्य दिए होंगे। उन्होंने

दिया भी है, क्योंकि राष्ट्रवाद का कोई एक रूप नहीं होता। क्रांतिकारी राष्ट्रवाद, सुधारवादी राष्ट्रवाद, जन राष्ट्रवाद, पुनरुत्थानवादी राष्ट्रवाद आदि राष्ट्रवाद के विचारधारात्मक प्रकार हैं। इन्हें हम हिंदी साहित्य के आदिकाल, भक्तिकाल तथा रीतिकालीन साहित्य में पाते हैं, किंतु राष्ट्रीय चेतना एक प्रवृति के रूप में अपनी पूरी धमक के साथ हिंदी साहित्य के आधुनिक काल में ही प्रतिष्ठित होती है।

आधुनिक काल में हिंदी साहित्य की एक प्रमुख विशेषता राष्ट्रीयता रही है। हिंदी साहित्य का आधुनिक काल पराधीनता तथा स्वतंत्रता का युग है, इसलिए इस कालखंड की कविता में राष्ट्रीयता की चटख कुछ ज्यादा है।इसकी शुरुआत भारतेंदु युग से होती है। भारतेन्दु तथा भारतेंदु मंडल के कवियों के बाद यह उत्तरोत्तर पुष्पित और पल्लवित होती चली गई। जिसके संवाहको में मैथिलीशरण गुप्त, जयशंकर प्रसाद, रामनरेश त्रिपाठी, बालकृष्ण शर्मा नवीन, माखनलाल चतुर्वेदी, सुभद्रा कुमारी चौहान, सोहनलाल द्विवेदी तथा रामधारी सिंह दिनकर आदि का नाम प्रमुख रूप से लिया जाता है। इन सभी कवियों ने संपूर्ण भारत के प्रति आस्था, अपनी संस्कृति के प्रति निष्ठा, मानवता के प्रति समर्पण, सामंती प्रवृत्ति के प्रति विद्रोह तथा स्वतंत्रता के लिए संकल्प एवं हुंकार भरते रहे हैं। हिंदी साहित्य के इन सब कवियों की अपनी -अपनी विशेषता रही है और सब में परस्पर फर्क भी। इन सब में दिनकर की विशेषता को समझने के लिए इनके अंतर को समझना होगा। आधुनिक हिंदी साहित्य के प्रथम घोषित राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त को पुनरुत्थानवादी कवि कहा जाता है। इस मान्यता पर दिनकर जी भी सहमत हैं। राष्ट्रीयता के भीतर एक प्रवृति पुनरुत्थानवादी की रही है। वैसे मैथिलीशरण गुप्त पुनरुत्थान वादी थे या नहीं, यह हिंदी आलोचना में विवादास्पद है। वह अपने देश के अतीत गौरव की ओर देखते हैं, वहाँ जाते हैं तथा पाठकों को पहुँचाते हैं। यह बात सत्य है, किंतु उनका मुख्य रूप से ध्यान स्वाधीनता का ही रहा है। वह महाभारत और रामायण के साथ इतिहास के किसी दौर की कथा और चरित्र को जब उठाते हैं तो उसको आधुनिक राष्ट्रीयता की दृष्टि से ही देखते और प्रस्तुत करते हैं-

"संदेश यहाँ मैं नहीं स्वर्ग का लाया।
इस भूतल को ही स्वर्ग बनाने आया"।।[3]

'साकेत' की यह पंक्तियाँ जनमानस में शक्ति का संचार करती हैं।उन्हें उद्वेलित करती हैं। इनकी कृति भारत भारती का तो कहना ही क्या! इस कृति ने इन्हें राष्ट्रकवि

के पद पर आसीन करने में अपनी महत्वपूर्ण भूमिका अदा की है-

"सुख दुख में एक सा सब भाइयों का भाग हो।
अंतः करण में गूँजता राष्ट्रीयता का राग हो।।"[4]

मैथिलीशरण गुप्त पर गाँधीवाद का जबरदस्त प्रभाव था। रामनरेश त्रिपाठी यद्यपि कभी अतीत में नहीं जाते। वह अपने सामने हुए आंदोलन की घटनाओं को समेटकर अपनी कथा तैयार करते हैं। इस दृष्टि से माखनलाल चतुर्वेदी का कार्य सबसे भिन्न है। यह राष्ट्रीय भावना के ओजस्वी कवि हैं-

"मुझे तोड़ लेना वनमाली, उस पथ पर देना तुम फेंक,
मातृभूमि पर शीश चढ़ाने, जिस पथ पर जावें वीर अनेक।।"[5]

माखनलाल चतुर्वेदी एक तरफ स्वाधीनता हेतु क्रांतिकारी धारा से जुड़े रहे तो दूसरी तरफ उनकी रचनाओं में क्रांतिकारी परिवर्तन हेतु की गई कुर्बानियों का वर्णन है। बालकृष्ण शर्मा नवीन भी इसी काव्य चेतना को अंगीकार करते हैं। इसी क्रम मे कवयित्री सुभद्रा कुमारी चौहान का भी नाम प्रमुखता से लिया जा सकता है। एक रचना तो उनकी ऐसी भी है जिसमें साफ-साफ उनकी क्रांति धर्मिता परिलक्षित होती है- कहा मुझे कविता लिखने को /मैंने लिखा जालियांवाला बाग। इस कविता की बानगी मात्र से ही सुभद्रा कुमारी चौहान की राष्ट्रीय चेतना का अंदाजा लगाया जा सकता है और यह समझा जा सकता है कि उन्होंने झाँसी की रानी कविता क्यों? और कैसे लिखी है। बहरहाल! इन सभी कवियों से भिन्न महाकवि रामधारी सिंह दिनकर का राष्ट्रीय चेतना का स्वर है।

स्वाधीनता संग्राम में या बीसवीं सदी के आरंभ से ही राष्ट्रीय कांग्रेस और गाँधीवाद से भिन्न भी क्रांतिकारी संघर्ष होते रहे हैं। इसके पीछे शीघ्र से शीघ्र परिणाम हासिल करने का उद्देश्य रहता था। स्वाधीनता संग्राम के दौरान ब्रिटिश सत्ता को शीघ्र से शीघ्र उखाड़ फेंकने की जो आक्रोश भरी चेतना सक्रिय रही है, वही बीसवीं सदी के तीसरे चक्र में सबसे अधिक संगठित और वैकल्पिक व्यवस्था के बारे में अधिकार संपन्न तथा जागरूक रही है। असहयोग आंदोलन के वापस लिए जाने के बाद युवा पीढ़ी के नवयुवकों में खासकर क्रांतिकारियों में अभूतपूर्व क्षोभ एवं रोष व्याप्त हो गया। इस दौर में पूरे देश में समाजवादी, मार्क्सवादी तथा क्रांतिकारी गतिविधियाँ आकर्षण पैदा कर रही थी। भगत सिंह, चंद्रशेखर आजाद तथा सुभाष चंद्र बोस आदि युवा पीढ़ी के दिलों में बस रहे थे। यही वह दौर है जब दिनकर की

राष्ट्रीय चेतना प्रखर रूप ले रही थी-

"रे! रोक युधिष्ठिर को न यहाँ,
जाने दो उनको स्वर्ग धीर।
पर फिरा हमें गांडीव गदा,
लौटा दे अर्जुन भीम भीम वीर।।"[6]

हिमालय कविता की ये पंक्तियाँ राष्ट्रीय भाव को व्यक्त करने के लिए बहुत प्रसिद्ध हैं। यही वह दौर है जब बिहार प्रांत के सिमरिया गांव के इस सूर्य के ताप को पूरा हिंदुस्तान महसूस करने लगा था। जिसके हुंकार से न जाने कितने वर्षों के सोए इस देश की नींद में खलल पैदा कर उसमें नई शक्ति का संचार पैदा किया। स्वाधीनता के लिए उन्हें ललकारा तथा उनके अंदर की शक्ति को बाहर निकालने का प्रयास किया। उस दौर के हनुमानों के भीतर छिपी शक्ति को बाहर लाने के लिए दिनकर ने अपनी कविता के माध्यम से जामवंत की भूमिका का निर्वहन किया-

"सच है विपत्ति जब आती है,
कायर को ही दहलाती है।
है कौन विघ्न ऐसा जग में,
टिक सके वीर नर के मग में।
मानव जब जोर लगाता है,
पत्थर पानी बन जाता है।
बत्ती जो नहीं जलाता है,
रोशनी नहीं वह पाता है।।"[7]

रामधारी सिंह दिनकर की कविताओं को दो श्रेणियों में बांटा जा सकता है। प्रथम श्रेणी की अधिकांश कविताएं राष्ट्रीय भावनाओं से ओतप्रोत हैं। इन कविताओं में क्रांति का उद्घोष है। हृदय के अंदर जल रही धधकती ज्वाला है। दास्तां की पीड़ा है और उसके विरुद्ध विद्रोह की भावना है-

"जातीय वर्ग पर क्रूर प्रहार हुआ है,
मां के किरीट पर ही यह बार हुआ है।
अब जो सिर पर आ पड़े नहीं डरना है,
जन्मे है तो दो बार नहीं मरता है।।"[8]

दिनकर वीर, ओज और शौर्य के कवि हैं। सोई हुई धमनियों में भी रक्त का संचार कराने की सामर्थ्य इनकी कविता में निहित है। दास्ता और अपमान से रोज घुट-घुट कर मरने से बेहतर है अपनी शान के लिए लड़ते हुए राष्ट्र की पुण्य बलिवेदी पर एक दिन शहीद हो जाना। दिनकर की कलम इन्हीं की जय बोलती है। ओज-उत्साह के साथ- साथ दिनकर में अपने देश के प्रति अपार करुणा भी है तभी तो वह पीड़ित मानवता और दलित समाज के भूखे, नंगे, गरीब लोगों के प्रति दिनकर की सहानुभूति सहज ही फूट पड़ती है -

"श्वानों को मिलता दूध वस्त्र,
भूखे बालक अकुलाते हैं।
मां की हड्डी से चिपक,
ठिठुर जाड़े की रात बिताते हैं।।"[9]

दिनकर की द्वितीय श्रेणी की कविताओं में विश्व कल्याण की महती भावनाओं की अभिव्यक्ति मिलती है। वास्तव में देखा जाए तो ऐसी ही कविताएँ दिनकर को देश काल की सीमा से मुक्त कर उन्हें विश्वव्यापी ख्याति दिलाती हैं। यह कविताएँ विश्वकल्याण की पोशाक हैं। इन कविताओं में कवि विश्वक्रान्ति द्वारा शांति चाहता है। विश्व की विषम परिस्थितियाँ दिनकर को उसी प्रकार बेचैन करती हैं जिस प्रकार देश की विषम परिस्थितियाँ चैन नहीं लेने देती। जिन लोगों ने यह आरोप लगाया कि दिनकर युद्ध के कवि हैं शायद उन्हीं लोगों के जवाब में यह कविताएँ लिखी गई हैं। युद्ध विश्व की तथा मानवता की बड़ी समस्या है। यह एक अभिशाप है। दिनकर भी युद्ध के पक्ष में कभी नहीं थे-

"आशा की प्रदीप को जलाए चलो धर्मराज,
एक दिन होगी भूमि रणभीति से। या
धर्म का दीपक, दया का दीप,
कब जलेगा, कब जलेगा, विश्व में भगवान।"[10]

दिनकर की कविता का मूल लक्ष्य मानवतावादी है। यह मानव को आत्म सम्मान के साथ जीने का तथा स्वाभिमान के साथ स्वतंत्र रहने की वकालत करती है। रामधारी सिंह दिनकर ने सहज रूप में युद्ध को मनुष्य के लिए हितकर नहीं माना है। विश्व बंधुत्व के लिए युद्ध घातक है। इससे सिर्फ और सिर्फ मनुष्यता की हत्या होती है। इससे मानवीय भावनाओ की हत्या होती है-

"भाई पर भाई टूटेंगे, विष वाण बूंद से छूटेंगे,
वापस श्रृंगाल सुख लूटेंगे, सौभाग्य मनुज के फूटेंगे।।"[11]

यह बात आज के समय में भी चरितार्थ होती महसूस होती है। युद्ध तो प्राय: पड़ोसी देशों के बीच ही हुआ करते हैं। इसमें हथियारों का कारोबार करने वाले श्रृंगार ही सुख लूटते हैं। किन्तु दिनकर उस वक्त युद्ध के पक्ष में भी खड़े होते हैं जब इसके अलावा कोई अन्य विकल्प नहीं हो। अन्याय के विरुद्ध निर्भयता के लिए यह आवश्यक है-

"छिनता हो स्वत्व कोई और तुम त्याग तप से काम लो, यह पाप है।
पुण्य है विच्छिन्न कर देना उसे, बढ़ रहा तेरी तरफ जो हाथ है।।"[12]

कुरुक्षेत्र की यह पंक्तियाँ गुलामी और अन्याय का प्रतिकार करती हैं। देशवासियों में पुनः स्वाभिमान का संचार करती हैं। उनमें राष्ट्र के लिए मर मिटने का जज्बा पैदा करती हैं। दिनकर की कविता में ही सिर्फ राष्ट्रीयता के स्वर नहीं मिलते बल्कि उनका जीवन भी राष्ट्रप्रेम से ओतप्रोत हैं। बचपन से ही दिनकर में राष्ट्रीयता की भावना कूट-कूट कर भरी पड़ी थी। पढ़ाई के दिनों में उन्होंने स्वयं अंग्रेजी स्कूल से अपना नाम कटवा लिया था। जवानी के दिनों में जब घर तंगी के हालात से गुजर रहा था उस वक्त उन्होंने सामंती व्यवस्था के विरोध में सरकारी स्कूल की नौकरी से इस्तीफा दे दिया था। सत्ता और देशप्रेम में हमेशा उन्होंने देश के साथ खड़ा होना पसंद किया। इसी कारण वह सड़क से संसद तक तथा जन-जन से जनपद तक बड़े चाव से पढ़े, सुने और गुने जाते हैं।

हिंदी साहित्य में राष्ट्रकवि का खिताब सिर्फ दो ही कवियों को प्राप्त है। प्रथम मैथिलीशरण गुप्त को तथा द्वितीय रामधारी सिंह दिनकर को। दोनों कवियों की रचना और मिजाज में अंतर है। राष्ट्रवादी चेतना की जो काव्य परंपरा चली आ रही थी उसे और तीव्र एवं प्रखर बनाने का कार्य रामधारी सिंह दिनकर ने ही किया। उन्होंने आरंभ से ही ओज और तेज से परिपूर्ण कविताएँ लिखी। अपने को डिप्टी राष्ट्रकवि मानने वाले रामधारी सिंह दिनकर ने सर्वप्रथम गुप्त जी की रचना जयद्रथ वध के अनुकरण पर प्रणभंग काव्य की रचना की। उसके बाद बहुचर्चित राष्ट्रवादी चेतना को पोषित करने वाली हुंकार, रेणुका, सामधेनी, कुरुक्षेत्र, रश्मिरथी, पशुराम की प्रतीक्षा आदि रचनाए प्रकाशित हुई। जिसमें दिनकर ने आर्थिक, सामाजिक और धार्मिक समस्याओं की अपेक्षा देश की स्वतंत्रता प्राप्ति के लिए क्रांति एवं विद्रोह का सिंहनाद करते हुए

जन-जागरण की भावना को ही सर्वाधिक महत्व प्रदान किया है। जिन रचनाओं का प्रकाशन स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद हुआ; उनमें भी राज्यसभा सांसद होते हुए भी देश में व्याप्त राजनीतिक दुर्बलता एवं समस्याओं पर अपने विचार खुलकर प्रकट किए हैं। दिनकर की जब भी बात होती है तो लोग वह संस्मरण अवश्य सुनाते हैं कि जब एक बार किसी कार्यक्रम में नेहरू जी शिरकत करने मंच पर चढ़ रहे थे तो अचानक उनका पैर लड़खड़ा गया और दिनकर जी ने उन्हें सँभाल लिया। इसके उपरांत जब नेहरू जी ने कृतज्ञता ज्ञापित करना चाहा तो दिनकर जी ने नेहरू जी से कहा इसमें कृतज्ञता वाली कोई बात नहीं है हमारे देश का इतिहास रहा है कि जब जब राजनीत लड़खडाती है तो साहित्य उसे सहारा देता है। दिनकर का यह जवाब उनकी प्रतिबद्धता को दर्शाता है।यह जब तक रहे, जहाँ रहे राष्ट्र और कलम के साथ रहे।

किसी भी देश का सच्चा राष्ट्रकवि कौन हो सकता है? इस पर गेटे की स्थापना बहुत महत्वपूर्ण है। उनके अनुसार राष्ट्रकवि उसे कहना चाहिए "जिसने अपने जाति के इतिहास के सभी प्रमुख घटनाओं के पारस्परिक संबंध का संधान पा लिया है। जिसे यह ज्ञात हो चुका है कि उसके जाति इतिहास में कौन-कौन सी बड़ी घटनाएं घटी है। उसके परिणाम क्या निकले हैं? राष्ट्रकवि की एक पहचान यह भी है कि उसे अपने देशवासियों के भीतर निहित महत्ता का ज्ञान होता है। अपनी जाति की गहरी अनुभूतियों से परिचित होता है। उसे इस बात का पता होता है कि उसकी जात की कर्मठता का प्रेरक स्रोत क्या है। राष्ट्रकवि का एक लक्षण यह भी है कि उसकी जाति जिस उमंग से चालित होकर संपूर्ण इतिहास में काम करती आई है उसे वह कलात्मक ढंग से व्यक्त करें। राष्ट्र कवि केवल वह कवि हो सकता है जिसकी रचना में जाति अपनी आत्मा की प्रति छाया देखती हो। जिसमें उस जाति के बाहुबल का आख्यान हो। उसके विचारों की ज्योति और भावनाओं का गुंजन विद्यमान हो और कोरे कवि जातीय कवि होने का दावा कर भी नहीं सकते। जातीय कवि तो वे ही लोग होते हैं जिनमें कल्पना के साथ कर्मठता को भी प्रेरित करने की शक्ति हो। जो केवल अतीत की आराधना नहीं करके अपने व्यक्तित्व के जोर से भविष्य को भी प्रभावित करता है।

राष्ट्रकवि वह वैनतेय (गरूड़) है जो बहुत ऊँचाई पर उड़ता है। जिसकी एक पाख तो अतीत को समेटे रहती है किंतु जो अपने दूसरी पाख से भविष्य की ओर संकेत करता है। राष्ट्रकवि उसे कहना चाहिए जो अपने देश की प्रत्येक संस्कृति को अपने में समा लेता है। जो देश के प्रत्येक वर्ग का अपने को प्रतिनिधि समझता

है और सभी संप्रदायों के बीच जो देशगत एक्य है उसे मुखर बनाता है।"[13] उक्त बातें रामधारी सिंह दिनकर की रचनाओं पर अक्षरश: सटीक बैठती हैं। इन सब का सांगोपांग निर्वहन दिनकर की कविताओं में हुआ है। इनके यहाँ भारतीय संस्कृति, आत्म गौरव एवं पराक्रम के संगम का अद्भुत उदाहरण मिलता है-

"ऊंच-नीच का भेद न माने वही श्रेष्ठ ज्ञानी है,
दया धर्म जिसमें हो सबसे वही पूज्य प्राणी है।।
तेजस्वी सम्मान खोजते नहीं गोत्र बतला कर,
पाते हैं जग से प्रशस्ति अपना कर्तव्य दिखला कर।।"[14]

दिनकर की एक बड़ी विशेषता उनकी राजनीतिक चेतना है। देश स्वतंत्र होने के बाद जो कुछ भी चीजें धुँधली थी वह सब सब साफ हो गई। सड़क से लेकर संसद तक की पहुँच ने दिनकर को वह मौका दिया जिससे वह शासन और सत्ता के बीच रहकर उसकी कमियों एवं आम जनता के शोषण के केंद्रों को ठीक ढंग से पहचान सकें। उनसे सवाल-जवाब कर सके। उन्हें आईना दिखा सके-

"अत्याचार सहन करने का कुफल यही होता है,
पौरूष का आतंक मनुज कोमल होकर खोता है।।
क्षमा शोभती उस भुजंग को जिसके पास गरल हो,
उसको क्या जो दंत हीन विष रहित विनीत सरल हो।"[15]

चीनी आक्रमण एवं आजादी के बाद देश ने जितनी भी आपदाएँ झेली दिनकर उसके साक्षी थे। उस हर आपदा से कवि ने मुठभेड़ किया। हाथ पर हाथ रखकर बैठने से कुछ नहीं होगा जिसकी जो सामर्थ्य है वह उसके साथ आपदा से मुकाबला करने सामने आएं। सत्ता में रहते हुए सत्ता को चुनौती देना आसान बात नहीं थी। सत्ता को आइना दिखाना, उसे गलत ठहराना बहुत जोखिम का काम था। आज सत्ता प्रमुख है, शासन प्रमुख है और देश बाद में है। लोग जी हुजूरी करने में, चापलूसी करने में अपनी पूरी कूबत खपा देते हैं। दिनकर ठीक इसके विपरीत थे। वह सच को सच कहने का साहस रखते थे। दिनकर जिस बात को कह देते थे आज कोई नहीं कह सकता।वह कांग्रेस के सांसद होते हुए भी नेहरू जी से बहस कर लेते थे और उन्हें चुनौती दे देते थे। हमारे इतिहास और सांसद की गरिमा का प्रतीक बनने वाली एक दास्तान है। जब चीनी आक्रमण के समय नेहरू के ढीले रवैये को देखकर रामधारी सिंह दिनकर ने उन्हें एक तरह से ललकारते हुए कहा कि-

"समर शेष है नहीं पाप का भागी केवल व्याध,
जो तटस्थ हैं समय लिखेगा उनका भी अपराध।।"[16]

दिनकर सत्ता में रहते हुए सत्ता से जवाब तलब करने वाले सांसद थे। जब उनका कांग्रेस से मोहभंग हो गया तो उन्होंने सत्ता बदल देने का भी आह्वान किया-

"दो राह !समय के रथ को
पहिए का घर घर नाद सुनो।
सिंहासन खाली करो कि जनता आती है।।"[17]

सत्ता और सम्मान का लोभ दिनकर में नहीं था। वह एक निर्भीक एवं स्वतंत्र चेतना के कवि थे। वह नेहरू जी का बहुत सम्मान करते थे किंतु उनके लिए सब रिश्तो से बड़ा रिश्ता राष्ट्र का था। उन्होंने उन सभी राजनीतिज्ञों का सम्मान किया जिनके अंदर राष्ट्रप्रेम की भावना थी। जिनके अंदर समाज के लिए कुछ करने की ललक थी उन सभी पर दिनकर ने कविताएँ भी लिखी हैं। चाहे वह गाँधी हो, नेहरू हो, लोहिया हो या जयप्रकाश हो।

राष्ट्रवादी विचारधारा की हिंदी कविताओं में वैसी कविता जो मन को आंदोलित कर दे और उसकी गूँज सालों साल तक सुनाई दे, जिसको सुनकर रोएँ भड़क उठें, ऐसी बहुत ही कम देखने एवं सुनने को मिलती हैं। जिन कवियों को यह ख्याति मिलती है जिनको यह यश या लोकप्रियता हासिल है वह कुछ जन-कवि होते हैं या राष्ट्र कवि होते हैं। ऐसा कवि जो जन-कवि भी हो और राष्ट्र कवि भी हो यह सम्मान बहुत कम कवियों को प्राप्त हो पाता है। रामधारी सिंह दिनकर ऐसे ही कवियों में से एक हैं जिनकी कविता किसी अनपढ़ किसान को भी उतनीही रुचिकर लगती है जितनी कि उन पर शोध कर रहे एक शोधार्थी को लगती है। ऐसा क्यों है ? इस बात का उत्तर एवं उत्तर की पुष्टि उनकी कविता से ही हो जाती है-

मैं निस्तेजो का तेज़, युगों के मूकमौन की बानी हूँ।
दिल -जले शासितो के दिल की मैं जलती हुई कहानी हूँ।।"[18]

संदर्भ

1. महाले, डॉ. सुभाष, माखनलाल चतुर्वेदी और वि. दा. सावरकर की कविताओं में राष्ट्रीय चेतना, (1997), चंद्रलोक प्रकाशन, कानपुर, पृष्ठ -25
2. शुक्ल, आचार्य रामचंद्र, हिंदी साहित्य का इतिहास, (2008), प्रकाशन संस्थान, नई दिल्ली, पृष्ठ-21

3. रस्तोगी, डॉ.देवी शरण, आधुनिक कवि और उनका काव्य, (1983) राजहंस प्रकाशन, मेरठ, पृष्ठ सं.-0 7
4. वही, पृष्ठ सं.-36
5. त्रिपाठी, विश्वनाथ, हिंदी साहित्य का संक्षिप्त इतिहास, (2000), एन.सी. आर.टी. नई दिल्ली, पृष्ठ सं. 118
6. दिनकर, रामधारी सिंह, संचयिता, (2015), भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली पृष्ठ-31
7. दिनकर, रामधारी सिंह, रश्मिरथी(2002), लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, पृष्ठ संख्या -27
8. दिनकर, रामधारी सिंह, संचयिता, (2015), भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, पृष्ठ संख्या-49
9. आधुनिक काव्य, संपादक -हिंदी विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय (2011), विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, पृष्ठ संख्या -145
10. दिनकर, रामधारी सिंह, संचयिता, (2015), भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली पृष्ठ संख्या-95
11. वही, पृष्ठ संख्या-100
12. वही, पृष्ठ संख्या-27
13. दिनकर, रामधारी सिंह, उर्वशी(2001), लोकभारती प्रकाशन इलाहाबाद पृष्ठ 134
14. दिनकर, रामधारी सिंह, रश्मिरथी (2002) लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, पृष्ठ संख्या -9
15. दिनकर, रामधारी सिंह, संचयिता, (2015), भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली पृष्ठ संख्या-9
16. वही, पृष्ठ संख्या-101
17. वही, पृष्ठ संख्या-133
18. आधुनिक काव्य, संपादक, हिंदी विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय वाराणसी, (2011), विश्वविद्यालय प्रकाशन वाराणसी, पृष्ठ संख्या 45

असिस्टेन्ट प्रोफेसर (हिन्दी विभाग)
श्री द्रोणाचार्य (पी.जी.) कॉलिज, दनकौर (गौतम बुद्ध नगर)

हिन्दी का भाषाई संघर्ष और दिनकर

— डॉ. मणिरंजन राय

भाषा और संस्कृति का गहरा संबंध है, और युग की माँग के अनुसार भाषा का स्वरूप राजनीतिक भी हो सकता है। दिनकर के अनुसार, हिंदी जोड़ने वाली भाषा है जो अपनी उपभाषाओं और अन्य भारतीय भाषाओं को एक सूत्र में पिरोती है। हिंदी साहित्य का विकास अवधी, ब्रज और बुंदेली जैसी विभिन्न बोलियों के योगदान से हुआ। हिंदी और उर्दू एक ही जड़ से उत्पन्न हुई भाषाएँ हैं, लेकिन औपनिवेशिक राजनीति ने इन्हें अलग कर दिया।

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद हिंदी को राजभाषा का दर्जा मिलने के बावजूद अंग्रेजी का प्रभुत्व बना रहा। दिनकर ने अंग्रेजी को मानसिक गुलामी का प्रतीक मानते हुए भारतीय भाषाओं के विकास की आवश्यकता पर बल दिया। उन्होंने सरल हिंदी के पक्ष में तर्क देते हुए हिंदी-उर्दू एकता और भाषाई विवादों के समाधान पर विचार किया। उनके दृष्टिकोण में हिंदी केवल भाषा नहीं, बल्कि भारत की सांस्कृतिक और राष्ट्रीय एकता का प्रतीक है।

मौन का गांभीर्य भी अभिव्यक्ति के औचित्य को स्पष्ट करता है। व्यष्टि अभिव्यक्ति का समष्टि में समागम भाषाई सेतु पर निर्भर है। जबकि साहित्य की संस्कृति सर्वाधिक समाजोन्मुख है तो साहित्य के विकास में भाषा का सरोकार अत्यंत महत्वपूर्व हो जाता है, चाहे वह किसी भी भाषा का साहित्य क्यों न हो। हिंदी काव्य-भाषा का स्वरूप भी इसी आधार पर विकसित हुआ है। भाषा साहित्य के विस्तार और पल्लवन में सहायक होती है। प्रत्येक साहित्य का आरंभ उस क्षेत्र में प्रचलित बोलियों से होता है, जो धीरे-धीरे मुख्य साहित्य का हिस्सा बन जाती हैं। हिंदी साहित्य के विकास में अवधी, ब्रज, बुंदेली, राजस्थानी आदि बोलियों का

विशेष योगदान रहा है। हिंदी साहित्य का प्रारंभ प्राकृत की एक विशेष अवस्था, जिसे अपभ्रंश या प्राकृताभास हिंदी कहा जाता है, से माना गया है। यह वह अवस्था थी जब प्राकृत लोक में प्रचलित भाषा के रूप में छायाभास होकर प्रयुक्त होने लगी। नाथों और सिद्धों ने अपने काव्य में इसी अपभ्रंश भाषा का उपयोग किया। वीरगाथा काल में हिंदी काव्य-भाषा ने डिंगल और पिंगल भाषाओं का रूप धारण किया। आदिकाल के अंतिम चरण में अमीर खुसरो ने अपनी गजलों, मुकरियों और दो सुखनों के माध्यम से खड़ीबोली हिंदी की एक झलक प्रस्तुत की। मध्यकाल में हिंदी काव्य-भाषा ने और अधिक परिवर्तन देखा, जिसमें ब्रजभाषा और अवधी का प्रभुत्व स्थापित हुआ। इन दोनों भाषाओं ने पूरे मध्यकाल के साहित्य पर अपनी विशिष्ट छाप छोड़ी। उन्नीसवीं सदी के अंत में हिन्दी को समृद्ध करने के लिए रीतिकालीन रूढ़ियों के विरुद्ध नवयुगीन प्रतिक्रिया प्रारंभ हुई। शासन समर्थित भाषा उर्दू और अंग्रेजी के विरुद्ध एक लंबे संघर्ष की घोषणा हुई। अंग्रजों ने हिन्दी और उर्दू को बाँटना आरंभ कर दिया। औपनिवेशिक राजनीति के कारण अदालती भाषा के रूप में उर्दू के महत्त्व ने उसे हिन्दी के विरुद्ध खड़ा कर दिया। आबिद हुसैन बताते हैं कि, “समान संस्कृति की जड़ हमेशा समान भाषा होती है। तेरहवीं शताब्दी में दिल्ली और उसके आस-पास बोली जाने वाली पश्चिमी हिन्दी भाषा के साथ पर्शियन के मिश्रण ने हिंदवी, हिन्दी या हिंदुस्तानी के रूप में जानी जाने वाले राष्ट्र भाषा को जन्म दिया जो बाद में उर्दू कही जाने लगी।” आबिद हुसैन ने सही संदर्भ और संकेतों के माध्यम से गलत निष्कर्ष को प्रस्तुत करने का प्रयास किया, हिंदवी या हिन्दी में संस्कृत और ब्रजभाषा की प्रधानता थी। उर्दू का विकास मुसलमानों के काल से इतर अंग्रेजों के शासन में अधिक हुआ। बच्चन सिंह के अनुसार, उस समय राजा शिवप्रसाद ने हिंदी भाषा और नागरी लिपि के पक्ष में जो योगदान दिया, वह अत्यंत महत्वपूर्ण है। वर्ष 1868 में उन्होंने सरकार को जो आवेदन पत्र भेजा, वह स्पष्ट रूप से फारसी लिपि का विरोध करता है। आम धारणा यह है कि शिवप्रसाद सितारे हिंद ने हिंदी के मुकाबले उर्दू का पक्ष लिया, जबकि उन्होंने अपनी स्पष्ट राय व्यक्त करते हुए लिखा था, “दिल्ली के मुसलमान बादशाहों ने भाषा के संबंध में जो कुछ सोचा भी नहीं था, वह अंग्रेजी सरकार अंग्रेजी के साथ-साथ फारसी लिपि में उर्दू को, जो एक दूसरी भाषा है, लाद रही है।... मेरी प्रार्थना है कि फारसी अक्षरों को हटाकर उसके स्थान पर हिन्दी को जारी करना चाहिए।” हिंदी के प्रति ऐसा आग्रह रखने

वाला और उर्दू को विदेशी कहने वाला व्यक्ति कालांतर में उर्दू का समर्थक कैसे बन गया, यह आश्चर्यजनक है। दरअसल, उर्दू का विकास एक देशज भाषा के रूप में हो रहा था, लेकिन जब उसमें अरबी और फारसी के शब्दों को ज़बरदस्ती शामिल किया गया, तो उसका स्वरूप विदेशी जैसा लगने लगा। ऐसा माना जाता है कि शिवप्रसाद की भाषा नीति में यह बदलाव अंग्रेजों की उर्दू-समर्थक नीति के कारण आया, क्योंकि वे शिक्षा विभाग में उच्चाधिकारी नियुक्त हो गए थे। शिवप्रसाद सितारे हिंद के इस बदले हुए दृष्टिकोण का विरोध राजा लक्ष्मण सिंह ने किया। डॉ. हरदेव बाहरी के अनुसार, शिवप्रसाद हिंदी को अधिक व्यापक बनाने के लिए उसे उर्दू के करीब लाने का प्रयास कर रहे थे, ताकि दोनों भाषाओं के बीच का अंतर कम किया जा सके।

धर्मयुग के संपादक के प्रति एक पत्र में दिनकर लिखते हैं, “मुख्य विषय यह है कि हिन्दी को संस्कृतनिष्ठ होना चाहिए या नहीं। पूज्य पं. मदनमोहन मालवीय जी के चरणों तक पहुँचने का सुयोग मुझे नहीं मिला था। किन्तु पूजनीय टंडन जी की संगति थोड़ी मुझे भी मिली थी। टंडन जी आसान हिन्दी के पक्षपाती थे। मैं भी आसान हिन्दी चाहता हूँ और मानता हूँ कि यह आदर्श हिन्दी अमृतलाल नागर लिख रहे हैं, कमलेश्वर लिख रहे हैं, हरिशंकर परसोई लिख रहे हैं और सबसे बढ़कर अमृतराय लिख रहे हैं।” राष्ट्रीय भावधारा में कई उपधाराएँ हैं, जैसे राष्ट्रीय स्वाधीनता संग्राम की विभिन्न धाराएँ। इन सभी धाराओं में एक समानता यह है कि वे ब्रिटिश शासन से भारत की मुक्ति के पक्ष में हैं। सभी स्वतंत्रता का समर्थन करती हैं, लेकिन अंग्रेजों से संघर्ष करने के तरीकों, स्वतंत्रता के स्वरूप और स्वतंत्र भारत की व्यवस्था को लेकर उनके विचारों में तीव्र मतभेद हैं। यह मतभेद केवल राजनीति तक ही सीमित नहीं था, बल्कि साहित्य में भी स्पष्ट रूप से दिखाई देता रहा है। आधुनिक साहित्य का अधिकांश भाग किसी न किसी रूप में राष्ट्रीय स्वाधीनता संग्राम से जुड़ा है। राष्ट्रीय कविता, स्वच्छंदतावादी कविता, छायावादी कविता और प्रगतिशील कविता—इन सभी में स्वाधीनता संग्राम की चेतना परिलक्षित होती है। इस स्वाधीनता के साथ भाषाई चेतना का प्रश्न महत्त्वपूर्ण हो जाता है।

दिनकर हिन्दी उर्दू की सामासिक संस्कृति पर विचार करते हुए, हिन्दी-उर्दू एकता की बात करते हैं और उनके उत्स को भी समान बताते हैं। “बोली जाने पर दोनों भाषाएं एक ही रहती हैं। हाँ, जब वे दो लिपियों में लिख दी जाती हैं तब वे दो

समझी जाती हैं।.... उनका व्याकरण एक है, उनकी क्रियाएं एक हैं और उनके मुहावरे भी एक हैं।" हिंदी-उर्दू के भेद को बढ़ा-चढ़ाकर देखने वालों को दिनकर का यह विचार भी ध्यान में रखना चाहिए कि फारसी, हिंदी की मातृभाषा संस्कृत से जुड़ी है। समय और स्थान के अंतर के कारण बाद में उसमें धार्मिक तत्त्व समाहित हो गए। खड़ी बोली से हिंदी के कवि परिचित थे, लेकिन इसे साहित्य की भाषा बनाने का श्रेय मुसलमानों को जाता है। दिनकर के अनुसार, मुसलमानों को स्थानीय भाषा की आवश्यकता थी और राजधानी के पास बोली जाने वाली खड़ी बोली सहजता से उनकी भाषा में शामिल हो गई। इसके बाद यह भाषा पूरे भारत में समझी जाने लगी।

दिनकर का मानना है कि उर्दू का विकास दक्षिण भारत में हुआ और यह हिन्दू-मुस्लिम एकता की भाषा के रूप में उभरी। दक्षिण की स्थिति उत्तर भारत से भिन्न थी। दक्षिण में मुसलमान सीमित संख्या में पहुंचे और उत्तर भारत की खड़ी बोली उनके साथ दक्षिण गई, जहां यह राजभाषा बन गई। दक्षिण के मुस्लिम कवियों ने खड़ी बोली को अपनाया, लेकिन छंद फारसी के थे। यदि वे फारसी, अवधी या ब्रज भाषा में लिखते, तो उन्हें श्रोता नहीं मिलते। भाषा का फैसला दिनकर जनता पर छोड़ना चाहते हैं। उनका मानना है कि, "दोनों ही धाराओं को नागरी की घाटी में खुलकर बहने दीजिए।.... प्रजासत्ता में क्या जनता को इतना भी अधिकार न दीजिएगा कि वह पसंद की भाषा चुन ले ?" संसदीय कार्यों के लिए हिंदी शब्दों की आवश्यकता होने पर, स्पीकर महोदय ने विद्वानों की एक बड़ी समिति का गठन किया और पुरुषोत्तम दास टंडन जी को उसका अध्यक्ष नियुक्त किया। इस समिति में भारत की सभी भाषाओं के विद्वान शामिल थे और इसका उद्देश्य था कि शब्द यथासंभव सरल हों। हालांकि, इस समिति में हिंदी के प्रतिनिधियों का पक्ष प्रभावी नहीं हो सका। अहिंदी भाषी विद्वान बार-बार इस बात पर जोर देते रहे कि शब्द संस्कृत के ही होने चाहिए, अन्यथा उन्हें पूरे देश में स्वीकृति नहीं मिलेगी। अंततः, समिति द्वारा जो शब्दकोश तैयार किया गया, उसमें अधिकांश शब्द संस्कृत से लिए गए। कानून की शब्दावली के लिए भी इसी तरह के प्रयोग हुए।

दिनकर लिखते हैं कि, मुद्दई और मुद्दालेह शब्द हिन्दी से इसलिए निकाल दिये गये कि अहिन्दी-भाषी विद्वान 'वादी' और प्रतिवादी रखना चाहते थे। चोट शब्द इसलिए निकाल दिया गया कि मराठी में उसका अर्थ अश्लील होता है। और चूक शब्द इसलिए हटा दिया गया कि ओड़िया में उसका अर्थ अश्लील होता है।" उर्दू

को हिन्दी के साथ चलने देने के पक्षधर होने के बाद भी दिनकर का मानना था कि हिन्दी राजभाषा के रूप में सफल नहीं होगी और यदि होगी तो संस्कृतनिष्ठ होकर ही होगी। दिनकर के ही शब्दों में, "एक पुनरीक्षण समिति का अध्यक्ष मैं भी था। समिति की बैठकों में मैं हिन्दी के प्रतिनिधियों को राजी कर लेता था कि वे फारसी या अरबी के शब्द स्वीकार कर लें। लेकिन तब कोई कन्नड़ या मलयालमभाषी विद्वान, कोश लेकर खड़ा हो जाता था और कहता था कि संस्कृत-शब्द ही उसे स्वीकार्य है।" सन् 1962 में दिनकर ने जो विरोध दर्ज़ किया वह उर्दू विरोधी न होकर हिन्दी की प्रकृति के साथ हो रहे मनमाने अत्याचार का विरोध था। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद, 14 सितंबर 1949 को हिंदी को भारत की राजभाषा का दर्जा दिया गया। संविधान के अनुच्छेद 343 के तहत हिंदी को संघ की राजभाषा घोषित किया गया, लेकिन शासकीय कार्यों में अंग्रेजी का उपयोग अगले 15 वर्षों तक जारी रखने का प्रावधान किया गया। संविधान निर्माताओं को उम्मीद थी कि इस अवधि में हिंदी अंग्रेजी का स्थान ले लेगी।

हालांकि, 15 साल बाद देश में अलगाववादी भावनाएँ बढ़ने लगीं और अहिंदी क्षेत्रों, विशेषकर तमिलनाडु, बंगाल और नागालैंड में हिंदी का विरोध हुआ। इस विरोध के चलते जवाहरलाल नेहरू ने आश्वासन दिया कि "हिन्दी को एकमात्र राजभाषा स्वीकार करने से पहले अहिंदी क्षेत्रों की सम्मति प्राप्त की जायेगी और तब तक अंग्रेजी को हटाया नहीं जायेगा।" परिणामस्वरूप, कानून द्वारा हिंदी के साथ अंग्रेजी को भी सहभाषा बनाए रखने की व्यवस्था की गई। जवाहरलाल नेहरू के मित्र दिनकर का मानना था कि, "जब अंग्रेज आये, भारत का बहुत बुरा हाल था। भारतवासी अपने इतिहास को भूल चुके थे, वे बाहर का तो क्या अपने देश का भूगोल ठीक से नहीं जानते थे।" यूरोपीय विचारों का सीधा संपर्क भारत के प्रबुद्ध जन को प्रेरित करने लगा। स्वतंत्रता और राष्ट्रीयता की भावना जो यूरोप में प्रचलित थी भारत में भी इसका प्रचार होने लगा। दिनकर लिखते हैं कि, "जिन भावनाओं की चोट से यूरोप के मस्तिष्क की शिराएँ थरथरा रही थीं, उन भावनाओं की चोट भारत को भी महसूस होने लगी।" लेकिन इसके साथ-साथ दिनकर का मानना था कि अंग्रेजी जितनी भी विकसित भाषा हो; वह भारतीय संस्कृति के सभी खूबसूरत पक्षों को व्यक्त नहीं कर सकती है, इसके लिए भारतीय भाषाओं का विकास जरुरी है। अपनी मूल भाषा को छोड़कर किसी अन्य भाषा को सीखने का प्रयास और

उससे उत्पन्न क्षणिक लोकप्रियता में विद्यार्थी के लिए ज्ञान से अधिक किसी भाषा के अधिनायकत्व का प्रभाव महत्त्वपूर्ण हो जाता है। दिनकर ने लिखा है कि, "जिस पराधीनता की जंजीर को हमने सन् 1947 ई0 के अगस्त में काट गिराया, वह हमारी शारीरिक गुलामी की जंजीर थी। मानसिक गुलामी की कड़ियाँ तो अब भी अंग्रेजी के साथ बंधी हुई हैं और जब तक अंग्रजी इस देश में प्रभुता के पद पर आसीन है, तब तक हम मानसिक और आध्यात्मिक स्वराज्य से वंचित रहेंगे।" भाषा की समस्या को दिनकर राष्ट्र की संप्रभुता के लिए ख़तरा मानते थे। भाषा की समस्या सिर्फ हिन्दी के प्रति दुराग्रह का नहीं है। यह अन्य अहिन्दी भाषी के प्रति हिन्दी के रूखे व्यवहार से उत्पन्न भाषाई विवाद का मूल है। दिनकर ने राष्ट्रवाद, हिन्दी और अन्य भारतीय भाषाओं के आपसी संबंधों, सामंजस्य और संघर्ष के बिंदुओं पर गहराई से विचार किया है। भाषा का प्रश्न संस्कृति से जुड़ा है और समय के अनुसार उसका स्वरूप राजनीतिक भी हो सकता है, लेकिन भाषा की राजनीति को छोटे उद्देश्यों के लिए उपयोग करना उचित नहीं। दिनकर ने हिंदी और उसकी उपभाषाओं के संबंध पर विचार करते हुए कहा कि हिंदी तोड़ने नहीं, जोड़ने वाली भाषा है। यह अपने क्षेत्र की उपभाषाओं को एक सूत्र में बांधती है। वास्तव में, गुजराती से असमिया तक सभी भारतीय भाषाएँ एक ही मूल भाषा की विविध अभिव्यक्तियाँ हैं, लेकिन समान नाम के अभाव में हम उन्हें अलग-अलग नामों से जानते हैं।

संदर्भ

1. हुसैन, एस. आबिद (2003). भारत की राष्ट्रीय संस्कृति, नेशनल बुक ट्रस्ट, नई दिल्ली, 83
2. सिंह, बच्चन (1996). हिन्दी साहित्य का दूसरा इतिहास, राधाकृष्णन प्रकाशन, दिल्ली, 310
3. सं. कुमार, नीरज (2008). ...हुंकार हूँ मैं, दिनकर स्मृति न्यास, 28
4. दिनकर, रामधारी सिंह (1968). साहित्यमुखी, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 122
5. दिनकर, रामधारी सिंह (1999). राष्ट्रभाषा और राष्ट्रीय एकता, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नयी दिल्ली, 45
6. सं. कुमार, नीरज (2008). ...हुंकार हूँ मैं, दिनकर स्मृति न्यास, 28
7. सं. कुमार, नीरज (2008). ...हुंकार हूँ मैं, दिनकर स्मृति न्यास, 28

8. बाहरी, डॉ. हरदेव (1996). हिन्दी भाषा, अभिव्यक्ति प्रकाशन, इलाहाबाद, 140
9. दिनकर, रामधारी सिंह (2002). संस्कृति के चार अध्याय, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 428
10. दिनकर, रामधारी सिंह (2002). संस्कृति के चार अध्याय, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 53
11. दिनकर, रामधारी सिंह (1999). राष्ट्रभाषा और राष्ट्रीय एकता, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नयी दिल्ली, 8

काशी हिंदू विश्वविद्यालय
वाराणसी

मगध-महिमा (पद्य-नाटिका)

— रामधारी सिंह दिनकर

(दृश्य–1)

(नालन्दा का खँडहर गैरिक वसन पहने हुए कल्पना खँडहर के भग्न प्रचीरों की ओर जिज्ञासा से देखती हुई गा रही है।)

कल्पना का गीत
यह खँडहर किस स्वर्ण-अजिर का?
धूलों में सो रहा टूटकर रत्नशिखर किसके मन्दिर का?
यह खँडहर किस स्वर्ण-अजिर का?
यह किस तापस की समाधि है?
किसका यह उजड़ा उपवन है?
ईंट-ईंट हो बिखर गया यह
किस रानी का राजभवन है?

यहाँ कौन है, रुक-रुक जिसको
रवि-शशि नमन किये जाते हैं?
जलद तोड़ते हाथ और
आँसू का अर्ध्य दिये जाते हैं?

प्रकृति यहाँ गम्भीर खड़ी
किसकी सुषमा का ध्यान रही कर?

हवा यहाँ किसके वन्दन में
चलती रुक-रुक, ठहर-ठहर कर?

है कोई इस शून्य प्रान्त में
जो यह भेद मुझे समझा दे,
रजकण में जो किरण सो रही
उसका मुझको दरस दिखा दे?
(नेपथ्य से इतिहास उत्तर देता है।)

इतिहास के गीत

1
कल्पने! धीरे-धीरे गा!
यह टूटा प्रासाद सिद्धि का, महिमा का खँडहर है,
ज्ञानपीठ यह मानवता की तपोभूमि उर्वर है।
इस पावन गौरव-समाधि को सादर शीश झुका।
कल्पने! धीरे-धीरे गा!

2
मैं बूढ़ा प्रहरी उस जग का
जिसकी राह अश्रु से गीली,
मुरझा कर ही जहाँ शरण
पाती दुनिया की कली फबीली।

डूब गई जो कभी चाँदनी
वही यहाँ पर लहराती है,
उजड़े वन, सूखे समुद्र,
डूबे दिनमणि मेरी थाती हैं।
मैं चारण हूँ मृतक विश्व का,
सब इतिहास मुझे कहते हैं,

सिंहासन को छोड़ लोग
मेरे घर आते ही रहते हैं।

धूलों में जो चरण-चिह्न हैं,
पत्थर पर जो लिखी कभी है,
मुझे ज्ञात है, इस खँडहर के
कण-कण में जो छिपी व्यथा है।

ईंटों पर जिनकी लकीर,
पत्थर पर जिनकी चरण-निशानी
जिनकी धूल गमकती मह-मह,
उन फूलों की सुनो कहानी।

यहीं मगध में कहीं एक थी
उरुवेला वनभूमि सुहावन,
जिसे देख रम गया तपस्या में
गौतम सन्यासी का मन।

छह वर्षों तक घोर तपस्या की,
पर, तत्व नहीं लख पाये,
अमृत खोजने को निकले थे,
पर, तप से न उसे चख पाये।

कृश हो गई देह अनशन से,
अति दुष्कर तप करते-करते,
रही अस्थि भर शेष, तथागत,
बचे किसी विधि मरते-मरते।
बरगद के नीचे बैठे थे
सोच रहे, अब कौन राह है,

तप से शक्ति क्षीण होती है,
सम्मुख यह सागर अथाह है।

ऐसे में, ले स्वर्ण-पात्र में
पावन खीर सुजाता आई,
वट-वासी देवता - सदृश
उसको कृश गौतम पड़े दिखाई।

अंचल से पद पोंछ, चढ़ा कर
धूप, दीप, अक्षत, फल, रोली,
सम्मुख थाल परोस, देवता से
कर जोड़ सुजाता बोली।

(पट-परिवर्तन)
(सुजाता ने अपने ग्राम के वट-देवता से यह मांगा था कि अगर मुझे पुत्र रत्न की प्राप्ति हो तो मैं तुझे खीर खिलाऊँगी। उसे पुत्र हुआ और जिस दिन वह वटवृक्ष की खीर चढ़ाने वाली थी, ठीक उसी दिन, गौतम उसी वृक्ष के नीचे आ विराजमान हुए, जिससे सुजाता ने यह समझा कि वट-देवता ही देह धरकर वृक्ष के नीचे बैठ गये हैं।)

दृश्य 2
(उरुवेला की भूमि बरगद के पेड़ के नीचे कृशकाय गौतम विराजमान हैं, सामने सोने की थाल में खीर परोसी हुई है आरती जल रही है धूप का धुआँ उठ रहा है सामने सुजाता प्रार्थना कर रही है।)

सुजाता का गीत

हमारे पूरे ज्यों मन-काम।
पूर्ण करें वट-देव! तुम्हारी भी इच्छा त्यों राम।
हमारे पूरे ज्यों मन-काम।

जैसे आसमान में तारे,
फूलें त्यों संकल्प तुम्हारे,
अन्धकार में उगो, देवता!
तुम शशि-सूर्य-समान।

जग को स्नेह-सलिल से सींचो,
जीव-जीव पर अमृत उलीचो,
रहे उजागर नाम तुम्हारा देश-देश, प्रति धाम।

भरी गोद मेरी यह जसे,
पूर्णकाम तुम भी हो वैसे,
मिला मुझे ज्यों तोष देव! त्यों मिले तुम्हें उपराम।
हमारे पूरे ज्यों मन-काम।

(सुजाता की यह शुभैषणा पूर्णरूप से चरितार्थ हुई, क्योंकि उसी की खीर खाने के बाद बोधि वृक्ष के नीचे गौतम ने वह गहरी समाधि लगाई जिसमें उन्हें बुद्धत्व प्राप्त हुआ। कहते हैं, सुजाता के मुख से यह आशीर्वाद सुनकर भगवान अत्यन्त प्रसन्न हुए और उन्होंने कहा कि जब तक तुम-सी भोली नारि मौजूद है, तब तक मुझे भी सफलता की आशा है।)

गौतम का गीत

तुम्हारे हाथों की यह खीर।
माँ! बल दे, मैं तोड़ सकूँ भव की दारुण जंजीर।
तुम्हारे हाथों की यह खीर।

यहाँ जन्म से मरण-काल तक केवल दुख-ही-दुख है,
वह भी है निस्सार, दीखता जहाँ-तहाँ जो सुख है।
फूलों-सा दो दिन हँसकर झर पड़ता मनुज-शरीर।

तुम्हारे हाथों की यह खीर।

मैं हूँ कौन? कौन तुम? हम दोनों में क्या नाता है?
खेल-खेल दो रोज, मनुज फिर चला कहाँ जाता है?
सता रहे हैं मुझे, जननि! ये प्रश्न गहन-गंभीर।
तुम्हारे हाथों की यह खीर।

खोज रहा हूँ जिसे, अमृत की अगर मिली वह धार,
नर के साथ देवताओं का भी होगा उद्धार।
हैं जल रहे अदृश्य आग में तीनों लोक अधीर।
तुम्हारे हाथों की यह खीर।

रवि-सा उगूँ तिमिर में, सच ही, यह मेरी अभिलाषा,
आज देखकर तुम्हें विजय की हुई और दृढ़ आशा।
आशिष दो, ला सकूँ जगत के मरु में शीतल नीर।
तुम्हारें हाथों की यह खीर।

(पट - परिवर्तन)

दृश्य 3
(प्रथम दृश्य की आवृत्ति कल्पना खड़ी सुन रही है इतिहास नेपथ्य के भीतर से गाता है।)

इतिहास के गीत

1
सुधा-सर का करते सन्धान।
उरुवेला में यहीं कहीं विचरे गौतम गुणवान!
बैठे तरुतल यहीं लगा मुनि सहस्रार में ध्यान,
यहीं मिला बुद्धत्व, तथागत हुए यहीं भगवान।
सुधा-सर का करते सन्धान।

2
कल्पने! पूछ न कोई बात!
यह मिट्टी वह, खिला धर्म का कमल जहाँ अवदात,
फूटा जहाँ मृदुल करुणा का पहला दिव्य प्रपात।
कल्पने! पूछ न कोई बात!

कल्पना का गीत

कौन है इस गह्वर के पार?
रजकण में यह लोट रहा किस गरिमा का श्रृंगार?
कौन है इस गह्वर के पार?

धूल फूल-सी मह-मह करती,
चारों ओर सुरभि है भरती,
उपवन था वह कौन यहाँ जो हुआ सुलग कर क्षार?
कौन है इस गह्वर के पार?

जन-रव का मुकुलित कल-कल है,
तिमिर-कक्ष में कोलाहल है,
झनक रही है अन्धकार में यह किसकी तलवार?
कौन है इस गह्वर के पार?

दीपित देश-विदेश अभी भी,
विभा विमल है शेष अभी भी,
जला गया यह अमर धर्म का दीपक कौन उदार?
कौन है इस गह्वर के पार?
(नेपथ्य के भीतर से इतिहास गाता है।)

इतिहास के गीत

1

कल्पने! धीरे-धीरे बोल!
पग-पग पर सैनिक सोता है, पग-पग सोते वीर,
कदम-कदम पर यहाँ बिछा है ज्ञानपीठ गंभीर।
यह गह्वर प्राचीन अस्तमित गौरव का खँडहर है!
सूखी हुई सरिता का तट यह उजड़ा हुआ नगर है।
एक-एक कण इस मिट्टी का मानिक है अनमोल।
कल्पने! धीरे-धीरे बोल!

2

यह खँडहर उनका जिनका जग
कभी शिष्य और दास बना था,
यह खँडहर उनका, जिनसे
भारत भू-का इतिहास बना था।

कहते हैं पा चन्द्रगुप्त को
मगध सिन्धुपति-सा लहराया,
राह रोकने को पश्चिम से
सेल्यूकस सीमा पर आया।

मगधराज की विजय-कथा सुन
सारा भारतवर्ष अभय हो,
विजय किया सीमा के अरि को,
राजा चन्द्रगुप्त की जय हो।

(पट-परिवर्तन)

दृश्य 4

(मगध की राजधानी का राजपथ जहाँ-तहाँ फूलों के तोरण और बन्दनवार सजे हैं ठौर-ठौर पर मंगल-क्लश रखे हुए हैं तथा दीप जल रहे हैं सड़क के दोनों ओर के महल भी सुसज्जित दीखते हैं रास्ते पर नागरिक आनन्द की मुद्रा में आ रहे हैं-जा रहे हैं। नागरिकों का एक दल गाता हुआ प्रवेश करता है।)

नागरिकों का गीत

सब जय हो, चन्द्रगुप्त की जय हो!
एक जय हो उस नरवीर सिंह की, जिसकी शक्ति अपार,
जिसके सम्मुख काँप रहा थर-थर सारा संसार।
मेरिय-वंश अजय हो!

सब चन्द्रगुप्त की जय हो!
दूसरा जय हो उसकी, हार खड़ा जिसके आगे यूनान,
जिसका नाम जपेगा युग-युग सारा हिन्दुस्तान।
दिन-दिन भाग्य-उदय हो!

सब चन्द्रगुप्त की जय हो!
कोर जय हो बल-विक्रम-निधान की,
जय हो भारत के कृपाण की,
जय हो, जय हो मगधप्राण की!
सारा देश अभय हो, चन्द्रगुप्त की जय हो!
तीसरा गली-गली में तुमुल रोर है, घर-घर चहल-पहल है,
जिधर सुनो, बस, उधर मोद-मंगल का कोलाहल है।

पहला घर-घर में, बस, एक गान है, सारा देश अभय हो!
घर-घर में, बस, एक तान है, चन्द्रगुप्त की जय हो!
(नेपथ्य में शंखध्वनि होती है।)

दूसरा देख रहे क्या वहाँ? शंख जय का वह उठा पुकार,
मगधराज का शुरू हो गया, स्यात्, विजय-दरबार!

चौथा हाँ, राजा जा चुके, जा चुके हैं चाणक्य प्रवीण,
सेल्यूकस के साथ गया है पण्डित एक नवीन।

पाँचवाँ और सुना, यह खास बात कहती थी मुझसे चेटी,
सेल्यूकस के साथ गई है सेल्यूकस की बेटी।

सब चलो, चलें, देखें दरबार!
चलो, चलें चलो, चलें!
(सब जाते हैं।)

(पट-परिवर्तन)

दृश्य 5

(चन्द्रगुप्त का राजदरबार सेल्यूकस, सेल्यूकस की युवती कन्या और मेगस्थनीज एक ओर बैठे हैं चन्द्रगुप्त, चाणक्य और सभासद् यथास्थान। चौथे दृश्य वाले नागरिक भी आते हैं।)

एक नागरिक (आपस में कानोंकान)
हैं महाराज खुद बोल
मत हिलो - डुलो,
चुपचाप सुनो!

चन्द्रगुप्त

मगध राज्य के सभासदो! पाटलीपुत्र के वीरों!
मगध नहीं चाहता किसी को अपना दास बनाना!
गुरु कहते हैं, दासभाव आर्यों के लिए नहीं है;
मैं कहता हूँ, मनुजमात्र ही गौरव का कामी है।

मैं न चाहता, हरण करें हम किसी देश का गौरव,
किसी जाति को जीत उसे फिर अपना दास बनायें।
उठी नहीं तलवार मगध की किसी लोभ, लालच से,
और न हम प्रतिशोध-भाव से प्रेरित हुए कभी भी।

न दासभावो आर्यस्य (कौटिल्य का अर्थशास्त्र)।

छिन्न-भिन्न है देश, शक्ति भारत की बिखर गई है;
हम तो केवल चाह रहे हैं उसको एक बनाना।
मृदु विवेक से, बुद्धि-विनय से, स्नेहमयी वाणी से,
अगर नहीं, तो धनुष-बाण से, पौरुष से, बल से भी।
ऋषि हैं गुरु चाणक्य; नीति उनकी हम बरत रहे हैं।

भरतभूमि है एक, हिमालय से आसेतु निरन्तर,
पश्चिम में कम्बोज-कपिश तक उसकी ही सीमा है।
किया कौन अपराध, गये जो हम अपनी सीमा तक?
अनाहूत हमसे लड़ने क्यों सेल्यूकस चढ़ आया?
मदोन्मत्त यूनान जानता था न मगध के बल को,
समझा था वह हमें छिन्न, शायद, पुरु-केकय-सा।
वह कलंक का पंक आज धुल गया देश के मुख से
हम कृतज्ञ हैं, सेल्यूकस ने अवसर हमें दिया है।
वीर सिकन्दर के गौरव का प्रतिभू सेल्यूकस था;
आज खड़ा है वह विपन्न, आहत-सा मगध सभा में;
उस बलिष्ठ शार्दूल-सदृश निष्प्रभ, हततेज, अकिंचन,
पर्वत से टकरा कर जिसने नख-रद तोड़ लिये हों;
उस भुजंग-सा जिसकी मणि मस्तक से निकल गई हो;
उस गज-सा जिस पर मनुष्य का अंकुश पड़ा हुआ हो।
सभा कहे, बरताव कौन-सा मगध करे इस अरि से।

प्रमुख सभासद्

महाराज ने कही न ये अपने मन की ही बातें,
यही भाव है मगध देश के धर्मशील जन-जनमें,
नहीं चाहते किसी देश को हम निज दास बनाना,
पर, स्वदेश का एक मनुज भी दास न कहीं रहेगा।
हम चाहते सन्धि; पर, विग्रह कोई खड़ा करे तो,
उत्तर देगा उसे मगध का महा खड्ग बलशाली।
सेल्यूकस के साथ किन्तु, कैसा बरताव करें हम,
इसका उचित निदान बतायें गुरु चाणक्य स्वयं ही;
क्योंकि सभा अनुरक्त सदा है उनकी ज्ञान-विभा पर।

चाणक्य

आग के साथ आग बन मिलो,
और पानी से बन पानी,
गरल का उत्तर है प्रतिगरल,
यही कहते जग के ज्ञानी।

मित्र से नहीं शत्रुता और,
शत्रु से नहीं चाहिए प्रीति;
माँगने पर दो अरि को प्रेम,
किन्तु, है यह भी मेरी नीति।
शक्ति के मद में होकर चूर
विजय को निकला था यूनान,
एक ही टकराहट में गया
मगध को वह लेकिन; पहचान।

प्रीति जो निकली पीछे झूठ,
भीति क्या? हम तो हैं तैयार;
चरण फिर-फिर चूमेगी जीत,

मगध की तेज रहे तलवार।

अतः, है सेल्यूकस के हाथ,
मित्रता ले या ले आमर्ष,
खड़ा है लेकर दोनों भेंट
ग्रीस के सम्मुख भारतवर्ष।

सेल्यूकस
सामने नहीं, मंच पर आज
खड़ा है विजयी भारत वीर,
और है मिट्टी पर यूनान,
पराजय की पहने जंजीर।

हमारी बँधी हुई है जीभ,
हमारी कसी हुई है! देह,
भला फिर मैं माँगूँ किस भाँति
गुणी चाणक्य! वैर या स्नेह?

मित्रता या कि शत्रुता घोर,
आपका जो जी चाहे करें,
एक है लेकिन, छोटी बात,
विनय है, उसको मन में धरें।

याद है कल पोरस के साथ
सिकन्दर ने सलूक जो किया?

चन्द्रगुप्त
धन्य सेल्यूकस! तुमने खूब
आज गुरुवर को उत्तर दिया।

वीरता का सच्चा बन्धुत्व,
झूठ है हार जीत का भेद;
वीर को नहीं विजय का गर्व,
वीर को नहीं हार का खेद।

किये मस्तक जो ऊँचा रहे
पराजय-जय में एक समान,
छीनते नहीं यहाँ के लोग
कभी उस बैरी का अभिमान।

सिकन्दर ही न, और भी लोग
प्रेम करते हैं अरि के साथ।
मगध का कर यह देखो बढ़ा,
बढ़ाओ अब तो अपना हाथ।

(चन्द्रगुप्त सिंहासन पर से अपना हाथ बढ़ाता है सेल्यूकस दोनों हाथों से उसे थाम लेता है।)

सेल्यूकस
जय हो मगधनरेश! न था मुझको इसका अनुमान,
आज पराजित है, सचमुच ही, भारत में यूनान।
जय हो, दिन-दिन बढ़े मगध का बल, वैभव, उत्कर्ष,
हुआ आज से सेल्यूकस का भी गुरु भारतवर्ष।
सन्धि नहीं, सम्बन्ध जोड़कर मुझको करें सनाथ,
अर्पित है दुहिता यह मेरी, पकड़ें इसका हाथ।
ग्रीस देश की इस मणि को उर-पुर में रखें सहेज,
सीमा पर के चार प्रान्त देता हूँ इसे दहेज।
आज्ञा हो तो राजदूत मेगस्थनीज को छोड़,
अब जाऊँ मैं शेष दिवस काटने ग्रीस की ओर।

(चन्द्रगुप्त सेल्यूकस की पुत्री को उठाकर सिंहासन पर बिठलाते हैं मेगस्थनीज उठकर राजा को प्रणाम करता है।)
(नागरिकों का कोरस गाते हुए प्रस्थान)

जय हो, चन्द्रगुप्त की जय हो।
जय हो बल-विक्रम-निधान की,
जय हो भारत के कृपाण की,
जय हो जय हो मगधप्राण की,
सारा देश अभय हो,
चन्द्रगुप्त की जय हो।
(गीत दूर पर खत्म होता सुनायी पड़ता है।)

(पट-परिवर्तन)

दृश्य 6

(प्रथम दृश्य की आवृत्ति सामने कल्पना खड़ी सुन रही है नेपथ्य के भीतर से इतिहास गाता है।)

इतिहास के गीत

1
कल्पने! तब आया वह काल।
उठा जगत में धर्म-तिलक-दीपित भारत का भाल
फिलस्तीन, ईरान, मिस्त्र, तिब्बत, सिंहल, जापान,
चीन, श्याम, सबने भारत के पद पर से गुरु मान।
भींग गई करुणा के जल से धरणी हुई निहाल।
कल्पने! तब आया वह काल।
2
करुणा की नई झन्कार।
साधना की बीन से निकली अधीर पुकार।

स्नेह मानव का विभूषण, स्नेह जीवन-सार,
सत्य को नर ने निहारा, स्यात् पहली बार।
फट गया अन्तर जयी का देख नर-संहार,
जीतकर भी झुक गयी संकोच से तलवार।
करुणा की नई झन्कार।

3
एक बार कलिंग की करतूत से हो क्रुद्ध,
है कथा कि अशोक कर बैठे भयानक युद्ध।
जय मिली, पर, देख मृतकों से भरा रणप्रान्त,
हो उठा सम्राट् का भावुक हृदय उद्भ्रान्त।
देखकर रणभूमि को नर के रुधिर से लाल,
रात भर रोते रहे निज कृत्य पर भूपाल।

(पट-परिवर्तन)

दृश्य 7

(कलिंग की युद्धभूमि लाशों से पटी हुई धरती पर फीकी चाँदनी फैली हुई है घायल कराह रहे हैं, रह-रह कर पानी! पानी! की आवाज आती है। एक ओर जरा ऊँची जमीन पर मगध की राजपताका निष्कम्प झुकी हुई है, मानों, वह शर्म से अपना मस्तक नहीं उठा सकती। ध्वजा के दंड से पीठ लगाए हुए सम्राट् अशोक परिताप की मुद्रा में खड़े हैं।)

अशोक के गीत

1
जय की वासने उद्दाम!
देख ले भर आँख निज दुष्कृत्य के परिणाम।
रुण्ड-मुण्डों के लुठन में नृत्य करती मीच;
देख ले भर आँख धरती पर रुधिर की कीच।
मनुज के पाँवों-तले मर्दित मनुज का मान,

आदमीयत के लहू में आदमी का स्नान।
जय की वासने उद्दाम!

2
रण का एक फल संहार।
मातृमुख की वेदना, वैधव्य की चीत्कार।
गन्ध से जिनकी कभी होता मुदित संसार,
वे मुकुल असमय समर में हाय, होते क्षार।
देह की जो जय, वही भावुक हृदय की हार,
जीतते संग्राम हम पहले स्वयं को मार।
रण का एक फल संहार।

3
हमने क्या किया भगवान?
यह बहा किसका लहू? किसका हुआ अवसान?
कौन थे, जिनको न जीने का रहा अधिकार?
कौन मैं, जिसने मचाया यह विकट संहार?
ऊर्मियाँ छोटी-बड़ी, पर, वारि एक समान।
सत्य ओझल, सामने केवल खड़ा व्यवधान।
हमने क्या किया भगवान?

4
पापी खड्ग घोर कठोर!
ले विदा मुझसे, सदा को संग मेरा छोड़।
अब नहीं जय की तृषा, फिर अब नहीं यह भ्रान्ति,
अब नहीं उन्माद फिर यह, अब नहीं उत्क्रान्ति।
अब नहीं विकरालता यह शत्रु के भी साथ,
अब रँगूँगा फिर नहीं नर के रुधिर से हाथ।
जोड़ना सम्बन्ध क्या जय से, दया को छोड़?

खोजना क्या कीर्ति अपने को लहू में बोर?
पापी खड्ग घोर कठोर!

5
गूँजे धर्म का जयगान।
शान्ति-सेवा में लगें समवेत तन, मन, प्राण।
व्यर्थ प्रभुता का अजय मद, व्यर्थ तन की जीत,
सार केवल मानवों से मानवों की प्रीत।
मृत्ति पर रेखा विजय की खींचते हम लाल,
मेटता उसको हमारी पीठ-पीछे काल।
पर, विजय की एक भू है और जिसके पास,
मृत्यु जा सकती न, करती है अमरता वास।
ज्योति का वह देश, करुणा की जहाँ है छाँह,
अबल भी उठते जहाँ धर कर बली की बाँह।
दृग वही जो कर सके उस भूमि का सन्धान,
जो वहाँ पहुँचा सके सच्चा वही उत्थान।
गूँजे धर्म का जयगान।

(पट-परिवर्तन)

दृश्य 8

(प्रथम दृश्य की आवृत्ति कल्पना खड़ी सुन रही है नेपथ्य के भीतर से इतिहास है गाता।)

इतिहास के गीत

1
कल्पने! जीवन के उस पार।
चमक उठा आँखों के आगे एक नया संसार।
प्राणों की जब सुनी प्राण ने करुणा-सिक्त पुकार,

चू करके गिर गयी मुष्टि से स्वयं स्त्रस्त तलवार।
कल्पने! जीवन के उस पार।

2
दया की हुई जयश्री चेरी।
सकल विश्व में नृप अशोक की बजी धर्म की भेरी।
मैत्री ने मन पर मनुष्य के नयी तूलिका फेरी।
जीवन के पावन स्वरूप की करूणा हुई चितेरी।
दया की हुई जयश्री चेरी।

3
कल्पने! यह संदेश हमारा।
बसता कहीं परिधि से आगे जीवन का ध्रुवतारा।
पा न सके हम उसे सतह के ऊपर कोलाहल में,
मिला हमें वह जब हम डूबे अपने हृदय-अतल में।

चन्द्रगुप्त-चाणक्य समर्थक-रक्षक रहे स्वजन के,
हीन बन्ध को तोड़ हो गये पर, अशोक त्रिभुवन के।
दो कूलों के बीच सिमटकर सरिताएँ बहती हैं,
सागर कहते उसे, दीखता जिसका नहीं किनारा।
कल्पने! यह संदेश हमारा।

(पटाक्षेप)

भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद्

सदस्यता शुल्क फार्म

प्रिय महोदय,

कृपया गगनांचल पत्रिका की एक साल/तीन साल की सदस्यता प्रदान करें।

बिल भेजने का पता	पत्रिका भिजवाने का पता
....	....
....	....
....	....
....	....

विवरण	**शुल्क**	**प्रतियों की सं.**	**रुपये/US$**
गगनाचंल वर्ष.............	एक वर्ष ₹ 500 (भारत) US$ 100 (विदेश) तीन वर्षीय ₹ 1200 (भारत) US$ 250 (विदेश)		
कुल	छूट, पुस्तकालय 10% पुस्तक विक्रेता 25%		

मैं इसके साथ बैंक ड्राफ्ट सं.. दिनांक ....
रु./US$ .... बैंक...
भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद्, नई दिल्ली के नाम भिजवा रहा/रही हूँ।

कृपया इस फॉर्म को बैंक ड्राफ्ट के साथ निम्नलिखित पते पर भिजवाएँ:

कार्यक्रम निदेशक (हिंदी)
भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद्
आजाद भवन, इंद्रप्रस्थ एस्टेट,
नई दिल्ली-110002, भारत
फोन नं. 011-2339309, 23379310

हस्ताक्षर और स्टैंप ....
नाम ....
पद ....
दिनांक ....

भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद की स्थापना, सन् 1950 में स्वतंत्र भारत के प्रथम शिक्षा मंत्री मौलाना अबुल कलाम आजाद द्वारा की गई थी। तब से अब तक, हम भारत में लोकतंत्र की दृढ़ीकरण, न्यायसंगत सामाजिक व्यवस्था की स्थापना, अर्थव्यवस्था का तीव्र विकास, महिलाओं का सशक्तीकरण, विश्व-स्तरीय शैक्षणिक संस्थाओं का सृजन और वैज्ञानिक परम्पराओं का पुनरुज्जीवन देख चुके हैं। भारत की पांच सहस्त्राब्दि पुरानी संस्कृति का नवजागरण, पुनः स्थापना एवं नवीनीकरण हो रहा है, जिसका आभास हमें भारतीय भाषाओं की सक्रिय प्रोन्नति, प्रगति एवं प्रयोग में और सिनेमा के व्यापक प्रभाव में मिलता है। भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद, विकास के इन आयामों से समन्वय रखते हुए, समकालीन भारत के साथ कदम से कदम मिलाकर चल रही है।

पिछले पांच दशक, भारत के लम्बे इतिहास में, कला के दृष्टिकोण से सर्वाधिक उत्साहवर्द्धक रहे हैं। भारतीय साहित्य, संगीत व नृत्य, चित्रकला, मूर्तिकला व शिल्प और नाट्यकला तथा फिल्म, प्रत्येक में अभूतपूर्व सृजन हो रहा है। भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद, परंपरागत के साथ-साथ समकालीन प्रयोगों को भी लगातार बढ़ावा दे रही है। साथ ही, भारत की सांस्कृतिक पहचान-शास्त्रीय व लोक कलाओं को विशेष सम्मान दिया जाता है। भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद सहभागिता व भाईचारे की संस्कृति की संवाहक है, व अन्य राष्ट्रों के साथ सृजनात्मक संवाद स्थापित करती है। विश्व-संस्कृति से संवाद स्थापित करती है। विश्व-संस्कृति से संवाद स्थापित करने के लिए परिषद ने अंतरराष्ट्रीय मंच पर भारतीय संस्कृति की समृद्धि एवं विविधता को प्रदर्शित करने का प्रयास किया है।

भारत और सहयोगी राष्ट्रों के बीच सांस्कृतिक व बौद्धिक आदान-प्रदान का अग्रणी प्रायोजक होना, परिषद के लिए गौरव का विषय है। परिषद का यह संकल्प है कि आने वाले वर्षों में भारत के गौरवशाली सांस्कृतिक एवं शैक्षणिक आंदोलन को बढ़ावा दिया जाए।

भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद

महानिदेशक	**23378103, 23370471**
उप-महानिदेशक (प्रशासन)	**23370784, 23379315**
उप-महानिदेशक (संस्कृति)	**23379249, 23370794**
हिंदी अनुभाग	**23370237, 23379309–10** **एक्स. 2256/2272**

पंजीयन संख्या, आर.एन/32381/78
ISSN-0971-1430

भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद के प्रकाशन

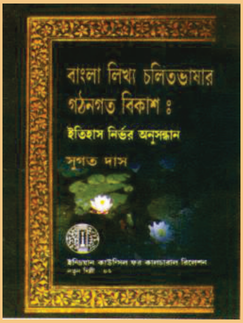
বাংলা লিখা চলিতভাষার
গঠনগত বিকাশ ঃ
ইতিহাস নির্ভর অনুসন্ধান
সুগত দাস

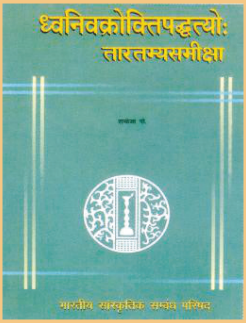
ध्वनिवक्रोक्तिपद्धत्योः
तारतम्यसमीक्षा
भारतीय सांस्कृतिक सम्बंध परिषद

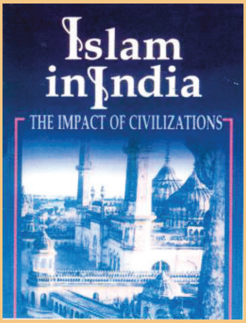
Islam in India
THE IMPACT OF CIVILIZATIONS

मुंशी प्रेमचंद
संगोष्ठी, लंदन 2005
Seminar On Munshi Premchand
London, 2005
भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद
INDIAN COUNCIL FOR CULTURAL RELATIONS

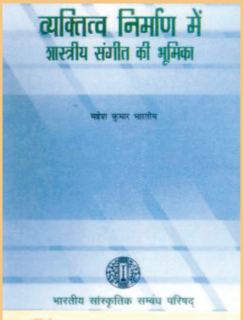
व्यक्तित्व निर्माण में
शास्त्रीय संगीत की भूमिका
महेश कुमार भारतीय
भारतीय सांस्कृतिक सम्बंध परिषद

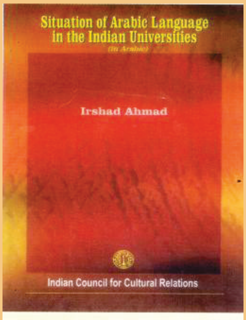
Situation of Arabic Language
in the Indian Universities
(In Arabic)
Irshad Ahmad
Indian Council for Cultural Relations

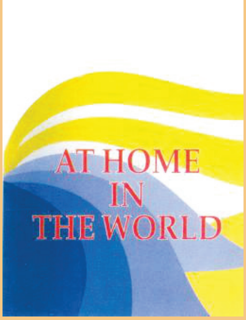
AT HOME
IN
THE WORLD

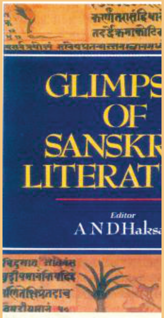
GLIMPS
OF
SANSKR
LITERAT
Editor
A N D Haks

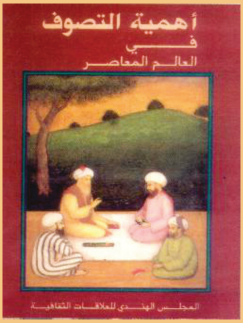
أهمية التصوف
في
العالم المعاصر
المجلس الهندي للعلاقات الثقافية

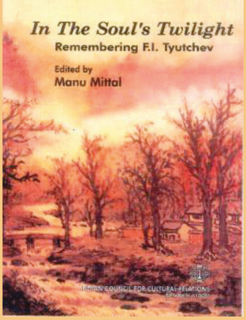
In The Soul's Twilight
Remembering F.I. Tyutchev
Edited by
Manu Mittal
INDIAN COUNCIL FOR CULTURAL RELATIONS

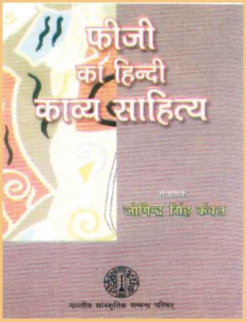
फीजी
का हिन्दी
काव्य साहित्य
सम्पादक
जोगिन्द्र सिंह कंवल
भारतीय सांस्कृतिक सम्बन्ध परिषद

आधुनिक हिन्दी
कविता में व्यक्ति
भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद

भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद

फोन : 91-11-23379309, 23379310
ईमेल : pohindi.iccr@nic.in
वेबसाइट : www.iccr.gov.in